

शांतिप्रिय द्विवेदी

कमल कुमार



भारतीय
साहित्य के
निर्माता

शांतिप्रिय द्विवेदी

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ — रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, जिसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का संभवत: सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुनकोण्डा : दूसरी सदी ईसवी

सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

शांतिप्रिय द्विवेदी

कमल कुमार



साहित्य अकादेमी

Shantipriya Dwivedi : A monograph in Hindi by Kamal Kumar on the modern Hindi author. Sahitya Akademi, New Delhi (1992), Rs.15.

प्रथम संस्करण : 1992

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय
रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोजशाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001
विक्रय विभाग : 'स्वाति', मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय
जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंजिल, 23 ए/44 एक्स.,
डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता 700 053
304-305, अन्ना सलाई, तेनामपेट, मद्रास 600 018
172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, बम्बई 400 01
ए. डी. ए. रंगमन्दिर, 109, जे. सी. मार्ग, बंगलौर 560 002

मूल्य : पन्द्रह रुपये

ISBN 81-7201-354-X

लेज़र-सैटिंग: पैरागन ऐन्टरप्राईसेस, नयी दिल्ली 110 002
मुद्रक : सजय प्रिंटर्स, दिल्ली 110 032

अनुक्रम

जीवन-वृत

आधुनिक हिंदी साहित्य के बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार, निबन्धकार, गद्यकार, आलोचक और कवि श्री शांतिप्रिय द्विवेदी ने औपचारिक शिक्षा के अभाव में भी अपने साहित्य में जिस मौलिक प्रतिभा, चिन्तन की विशिष्टता और सौन्दर्य-दृष्टि का परिचय दिया, वह स्तुत्य है। उनका जीवन अभावग्रस्त, एकाकी और संघर्षपूर्ण रहा। कमजोर काया, बचपन से ही न सुन पाने का कष्ट और दुर्बल कलेवर में भी उनकी प्रतिभा बाधित नहीं हुई और उनकी रचनाओं में प्रस्फुटित होती रही। 'परिव्राजक की प्रजा' उनकी आत्मकथा है जिसमें 'आपबीती' के साथ-साथ रचनात्मक जीवन के संकेत भी हैं।

शांतिप्रिय द्विवेदी का जन्म एक विपन्न ब्राह्मण परिवार में सन् 1906 ई. में काशी में हुआ। उन्होंने लिखा —"काशी विद्यागुरु विश्वनाथ की काशी, गंगाधर चन्द्रशेखर भगवान भूत भावन की काशी, शिव के त्रिशूल पर टिकी तीन लोक से न्यारी पाप-ताप नाशिनी काशी !— यही काशी मेरी जन्मभूमि है।" इनके पिता आजमगढ़ जिले के बरहमपुर गाँव के निवासी थे। जो उनके बचपन में ही 'अनिकेतन' संन्यासी हो गये थे। किन्तु वह संन्यासी होकर भी भिक्षुक नहीं थे। खाने के लिए जंगल से एक विशेष प्रकार की वनस्पति लाते, पीने को अपने कमण्डल में गंगाजल अथवा कूप-जल भर लेते थे। वस्त्र न रहने पर दिगम्बर घूमते रहते। धरती उनका बिछावन थी और आकाश ओढ़ना। प्रकृति के प्रांगण में वे मुक्त पुरुष थे। उनकी ज्ञान-पिपासा उन्हें काशी खींच लायी थी। पिता ने गृहस्थी के लिए कुछ नहीं जुटाया 'सब तज राम भज' उनका आदर्श था। आजीवन तन, मन, धन से 'दुर्बल महाराज' थे। यह निर्धनता स्वैच्छिक थी। श्रद्धालु उन्हें जो धन, अन्न और वस्त्र भेंट करते थे वे उनका स्पर्श भी नहीं करते थे। बरहमपुर गाँव जहाँ प्रकृति अपने सम्पूर्ण वैभव में विचरण करती थी वहाँ राग-द्वेस, हर्ष-विषाद सब कुछ प्रकृति की ही तरह उन्मुक्त थे। "पिता कब काशी आए किस तरह अपने जीवन का प्रारंभ किया, कैसे-कैसे, क्या-क्या पढ़ा गुना, यह सब अज्ञात है।"

द्विवेदी जी का बचपन का नाम मुच्छन था। "घर में सबसे सादा मेरा नाम था "मुच्छन" : शत्रु-विहीन शिशु — " जिसे सन् 1922 में पं. रामनारायण मिश्र ने बदल

कर शांतिप्रिय द्विवेदी रख दिया था। द्विवेदी जी ने आशीर्वाद के साथ यह सात्विक नाम शिरोधार्य किया। द्विवेदी जी छः भाई बहिन थे। जिनमें सबसे बड़े वह स्वयं थे। एक बड़ी बहिन कल्पवती बाल विधवा थी, जो काशी में रहती थी। मँझली बहिन अमाला गाँव में ब्याही गयी गृहस्थिन थी। इनसे छोटे दो भाई रुच्चन और हीरामन थे और दो बहिनें कल्पवती और मुन्नी थी। छोटे भाई बहिन सभी बहुत छुटपन में स्वर्ग सिधार गये थे। माँ की मृत्यु भी इनके बचपन में ही हो गयी थी तब वह इतने छोटे थे कि माँ का दाह-संस्कार भी विधवा बहिन ने ही किया था।

आज़मगढ़ के बरहमपुर में द्विवेदी जी के आश्रयदाता दुक्खू चाचा थे। वे हृदय से उदार थे और दूसरों का दुःख दूर करने में लगे रहते थे। इसलिए इनके पिता ने अपनी सारी सम्पत्ति, घर, जमीन इत्यादि अपने बड़े भाई के लड़के निरंजन मिश्र के नाम कर दी थी। दुक्खू चाचा उन भाई के आश्रित थे और द्विवेदी जी का परिवार दुक्खू चाचा के। अतः वे आश्रित के आश्रित थे। निरंजन मिश्र और उनकी पत्नी बिगड़ैल स्वभाव की थी। 'नियति और संसार की विडम्बनाओं से अभिशप्त' बहिन कल्पवती और द्विवेदी जी को सान्त्वना देनेवाला कोई नहीं था।

ऐसी स्थिति में द्विवेदी जी को 'वन देवी के अंचल' में ही विश्राम मिला। वह अपने गाँव बरहमपुर और काशी में आते-जाते रहते। गाँव में उनकी वृद्धा दादी का स्नेह तो था परंतु पालन-पोषण की समुचित व्यवस्था का सर्वथा अभाव था। पर प्रकृति से इनकी चेतना को बल मिलता रहा। मदैनी में प्राइमरी स्कूल में इनकी शिक्षा का प्रारंभ हुआ। तभी बीच में उन्हें अपनी मँझली बहिन के ससुराल अमाला जाकर रहना पड़ा। वहाँ भी शारीरिक और मानसिक पोषण का अभाव रहा। "बहिन की ममता और दुलार जीजा की कठोरता के सामने विवश हो जाता।" द्विवेदी जी ने लिखा, "शासन तो था ही, पोषण का यह हाल था कि दोपहर में नाम-मात्र का दाना मिलता था। रात में भूख से आँख में आँसू आ जाते। सबके खा लेने पर अन्त में बाबा के थाल में ही कुछ रुखा-सूखा खा लेता था। बदन पर पहनने के लिए एक भी साबुत कपड़ा नहीं, चीथड़े जैसी धोती में पचासों गाँठ लगाकर पहनता। किसी निरंकुश नृपति के शासन में जनता की जो दीन-हीन हालत होती है वही मेरी भी थी। जीजी भी क्या करती, वह भी तो पराधीन थी।"

दूसरी ओर स्कूल में मास्टर का अनुशासन दुःसहय था। कक्षा के सहपाठी भी उनके प्रति अनुदार थे। बाहर से कटकर अपना मन पढ़ाई में लगाया और सन् 1915 से 1918 तक तीन कक्षाएँ अग्रणी रहकर उत्तीर्ण की। अमाला में वे अधिक समय तक नहीं रह सके और उन्हें काशी लौटना पड़ा। काशी में बहिन कल्पवती थी जिसे दुक्खू चाचा का घर, उनकी कर्कशी मामी और भाई के दुर्व्यवहार के कारण छोड़ना पड़ा। वह वृद्ध ब्राह्मण पुरुषोत्तम बाबा के घर पर आकर रहने लगी। बहिन कल्पवती ने सन् 1919 में पुनः

द्विवेदी जी को भदैनी के उसी स्कूल में चौथे दर्जे में दाखिल करवा दिया। अपनी रुचि और लगनशीलता से म्युनिसिपल बोर्ड के सभी प्राइमरी स्कूलों के छात्रों को पराजित करके वार्षिक छात्रवृत्ति प्रतियोगिता में सबसे अधिक अंक प्राप्त किये। बोर्ड के अन्य उत्तीर्ण छात्रों के साथ दो रुपये मासिक छात्रवृति मिली। सन् 1920 में द्विवेदी जी का नाम कबीर चौरा के मिडिल स्कूल में पाँचवी कक्षा में लिखाया गया। परंतु कृशकाय, सहपाठियों की उपेक्षा और तिरस्कार के कारण अपने को व्यवस्थित नहीं कर सके। खेतों की हरी-भरी वीथिका से मदरसे का रास्ता सुहावना लगता किंतु मदरसे में जाते ही मन सूख जाता। वहाँ का वातावरण निरानंद था। शुष्क कर्मकाण्ड की तरह पढ़ाई होती थी। मदरसे में लड़के मुझे अपनी पंक्ति में नहीं बैठाना चाहते थे। एक तो मेरे कान बहते, दूसरे, मुख पर कुछ ऐसा टुअरपन, ऐसा सूनापन छाया रहता कि वे मेरे साथ बैठने में अपनी हेठी समझते। लड़कों से बहिष्कृत और घर से तिरस्कृत मेरा मन एकान्तवासी हो गया द्विवेदी जी का मन पढ़ाई से उचट गया। "एक बँधी-बँधाई पटरी पर दौड़ने की बजाए मन भावना के जगत से उन्मुक्त हो जाना चाहता था।" द्विवेदी जी ने स्कूल की शिक्षा छोड़कर स्वाध्याय प्रारंभ किया। "शरीर की तरह मेरा मन भी बुभुक्षित था, जिज्ञासु था। किन्तु स्वाध्याय के लिए कोई पथप्रदर्शक नहीं था फिर भी मैं अपनी लग्न में लगा रहा। मेरे चारों ओर का संसार किसी विश्वविद्यालय की तरह था। बिना किसी बाहय निर्देशन के मैं जुगनुओं की तरह अपनी ही बाल-ज्योति में अपना पथ खोजता रहता था।"

बहिन कल्पवती द्विवेदी जी के पढ़ाई छोड़ देने पर अत्यन्त व्यथित हुई। उसकी आशाओं पर कुठाराघात हुआ। वह उन्हें अकर्मण्य नहीं देखना चाहती थी इसलिए उसने द्विवेदी जी के साथ असहयोग किया। द्विवेदी जी स्वाध्याय में जुट गये। साथ ही ज्ञान और अन्न की पिपासा में भ्रमण करने लगे। एकान्त जीवन से बाहर वे कई लोगों के सम्पर्क में आए। तो भी उनके जीवन का आधार उनका ब्राह्मण संस्कार, शुचिता और स्वाध्याय का ही रहा। उनके भावुक और संवेदनशील स्वभाव ने उन्हें साहित्य की ओर प्रेरित किया। जीवन में निराश होने पर भी साहित्य में निष्क्रिय नहीं रहे। आर्थिक अभाव के कारण द्विवेदी जी विवाह भी नहीं कर सके। समाज में उन्हें कहीं आश्रय नहीं मिला और न ही जीवन में स्नेह और वात्सल्य। सन् 1939 में बहिन कल्पवती की मृत्यु ने उन्हें बिल्कुल निराश्रित कर दिया था। इन्हें कुछ समय तक अपनी फुफेरी बहिन के यहाँ भी रहना पड़ा। वहाँ भी इनका शोषण हुआ। द्विवेदी जी ने बहुत यात्राएँ भी कीं। जीवन के अंतिम वर्षों में भदैनी के लोलार्क कुण्ड में रहे। व्यथित और कष्टपूर्ण जीवन बीता। मृत्यु के पूर्व उदर के मर्मान्तक रोग से अनवरत संघर्ष करते रहे। उन्हें अपनी मृत्यु का पूर्वाभास हो गया था और अपने दाह-संस्कार के विषय में इच्छा भी व्यक्त की थी। "मेरी अन्त्येष्टि वहाँ न की जाए जहाँ राजा-महाराजाओं या महान नागरिकों की होती है वरन् मेरे शव को हरिश्चन्द्र घाट के उस स्थान पर जलाया जाए जहाँ सामान्य नागरिक जलाए जाते हैं।" उदर की मर्मान्तक पीड़ा सहन करते हुए 27 अगस्त 1967 को द्विवेदी जी का स्वर्गवास हो गया।

व्यक्तित्व निर्माण : प्रेरणा एवं प्रभाव

शांतिप्रिय द्विवेदी प्रारंभ से ही भावुक, संवेदनशील और सौन्दर्यप्रिय थे। स्वभाव से निष्कलंक, सरल और स्वप्निल प्रकृति के थे। इसलिए मानव जगत की अपेक्षा प्रकृति से अभिन्नता स्थापित कर ली थी। दिग्-दिगन्त से प्रकृति जैसे उन्हें अपने पास आने को आमंत्रित करती थी। 'प्रकृति के भीतर कोई अदृश्य शक्ति मुझे अपना लाड़-प्यार देती थी।' प्रकृति के क्रीड़ा-क्रोड में ही उनका बचपन बीता। बचपन में गाँव के कछारों में मित्र-मंडली के साथ खेलकूद की कुछ सुखद स्मृतियों का उल्लेख भी उन्होंने किया। आम की अमराई, नदी और खेतों के बीच बसा, प्रकृति की शोभा से भरपूर मानव परिवार जैसा उनका गाँव था बरहमपुर। उन्होंने लिखा; "यहाँ का रागद्वेष, हर्ष-विषाद, सब कुछ प्रकृति की ही तरह उन्मुक्त। खेती के साथ-साथ मनुष्य के मन को भी सींचते रहने के लिए कछार में सरजू जी बहती रहती है जो अयोध्या तक अखण्ड चली गयी है। न जाने किन पूर्वजों के पुण्य से पुण्य सलिला ने यहाँ भी अपना दर्शन दे दिया। जाड़े के दिनों में मटर, अरहर, सरसों और तीसी की रंग-बिरंगी हरियाली और ईख के सघन झुण्डों से परिवेष्टित सरजू ने वायु क़ी तरह अदृश्य किन्तु वन-शिशुओं को खेलने के लिए दोनों किनारों पर स्वर्गीय उद्यान लगा दिया है।" "बचपन में यहीं बैठकर प्रातःकालीन सूर्य की ओर एकटक ताकता रहता, गंगा के जल में जब उसकी रंग-बिरंगी किरणें किलकिल-किलकिल करने लगतीं तब उन्हीं के साथ मेरी दृष्टि भी उर्मिल-उर्मिल हो जाती।" "नीम के पेड़ के तितली के पंखों जैसे पतले चिकने पत्तों से पुलकित होते थे। उन्हें समस्त सृष्टि एक 'जाग्रत स्वप्न'-सी प्रतीत होती थी। जो उनके शिशु-मन को अपने सम्मोहन में बाँध लेती थी और अपनी अदृश्य उंगलियों से गुदगुदा देती, "चारों ओर धवल उज्ज्वल वन प्रान्तर मेरा शांत और सुखी साम्राज्य था। तरुवासी विहगों की तरह उनका मन भी अमराइयों में, कछारों में, जंगलों में और न जाने कहाँ-कहाँ उड़ता-फिरता था। सरजू में तैरना और अमराइयों में खेलना इनके स्वभाव के अनुकूल था। जाड़ों की मीठी धूप में ईख की मधुरता भी मिली रहती है। सवेरे लोग ईख छीलते हैं, दोपहर में गंडेरा काटते हैं, साँझ में कोल्हू में उसे पेरते हैं, रात में गुलुआर में गुड़ पकाते हैं। वह सब दृश्य प्रकृति के सरस समारोह जैसा जान पड़ता है। ईख की पिराई के दिन गाँव में रतजगा होता है। एक और अलाव पर

बैठकर गाँव के लोग-बाग हँसते-बोलते और न जाने कहाँ की कितनी नई-पुरानी बातें कहते-सुनते हैं, दूसरी ओर लड़के अपनी दुनिया में धमा-चौकड़ी मचाते रहते हैं। प्रकृति के भीतर से गाँव में उन्हें जो मिल सकता था द्विवेदी जी उसी में मग्न रहते थे। बचपन के अन्य संस्मरण में उन्होंने लिखा, "जीजी का घर प्रकृति के मनोरम स्थल पर था। घर के पीछे पेड़, पेड़ की ऊँची धरती के नीचे अरण्यदानी के हृदय से उत्सव की तरह फूट निकली नहर जैसी पतली तलटैया, उसके उस पार पेड़ों के झुरमुट से झाँकता भूमिहरों का घर।"

द्विवेदी जी साफ और सरल प्रकृति के थे। दूसरे बालकों की तरह उनमें चालाकी नहीं थी। "मेरा जीवन बचपन से ही निराग रहा। सबके बीच में भी एकाकी। जन्म से ही अल्पश्रुत होने के कारण बहिर्जगत से वंचित रहा।" सबके अहंकार की मार सहते-सहते जैसे वे स्वयं अहं-शून्य हो गये थे। उनकी वृत्ति कोमल थी। इतनी कोमल कि कलकत्ते में भालू के एक बच्चे के 'अकृत्रिम शैशव' का सुख पाकर विभोर हो गये थे। इसी प्रकार गणेश जी के वाहन का एक शिशु भी अपनी सरलता और चंचलता से उनका घरेलू प्राणी बन गया। "उसकी निरीह आँखों में ऐसी मानवीयता थी कि उसे छोड़ने को जी नहीं चाहता था। मनुष्य के बचपन से भी वह अधिक निरीह, अधिक सुकुमार और अधिक अबोध था। तनिक-सा मुँह, तनिक-सा तन — तनिक-सा वह। जी चाहता आँखों में रख लूँ।"

प्रकृति के प्रेम, सौन्दर्य दृष्टि और मन की कोमलता तथा भावुकता ने उन्हें काव्य प्रेम की ओर प्रेरित किया और अपने स्वाध्याय से साहित्य क्षेत्र में पदार्पण किया। "तुतलाहट टूटने पर शिशु जिस तरह नये-नये शब्दों, नयी-नयी अभिव्यक्तियों, नयी-नयी प्रेरणाओं को ग्रहण करता है और फिर जो कुछ भा जाता है, उसका अनुसरण करता है उसी तरह मैं भी अपने चारों ओर की सृष्टि में संसरण कर रहा था।"

अपने जीवन की बाधाओं और अभावों को अपने मनोबल से ध्वस्त करते रहे। द्विवेदी जी अपने स्वभाव की सहजता और दूसरों पर जल्दी ही विश्वास कर लेने से और उनके सामने अपने मन की बात कह देने से परिचितों और मित्रों में उपहास के पात्र बन जाते थे। उनके साथी भी अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए इनका शोषण करने में हिचकते नहीं थे। इन कटु अनुभवों ने उनके सरल हृदय को अत्यधिक व्यथित कर दिया था। शायद इन्हीं कारणों से उनका स्वभाव आत्म-केन्द्रित और एकाकी हो गया था। तो भी जीवन पथ पर उनका सम्पर्क उस समय की कई प्रतिभाओं से हुआ जिनका प्रभाव उनके साहित्य पर पड़ा। तथापि उनके व्यक्तिगत जीवन तथा साहित्यिक संस्कार को सबसे अधिक प्रभावित किया उनकी बहिन कल्पवती ने। बहिन बाल विधवा थी जो लंदन मिशन पाठशाला में पढ़ी थी। माँ की अकाल मृत्यु के बाद द्विवेदी जी की साज-सँभाल भी बहिन ने ही की थी। माँ की ममता और पिता की क्षमता उन्हें अपनी इसी बहिन से प्राप्त हुई थी। माता-पिता की तरह वही उनके जीवन के क्षण-क्षण का संरक्षण करती थी। स्वर्ग की इस कल्पलता को

विधाता ने मानों उनके जीवन को प्रच्छादित करने के लिए ही पृथ्वी पर भेजा था। "उन्हें जीवन में जो भी प्यार, ममता और वात्सल्य मिला, वह बहिन से ही मिला। बहिन कल्पवती के बड़े ही काव्यात्मक एवं करुण चित्र द्विवेदी जी ने खींचे, भारती की तरह एकाग्र और शांत, 'साधना की साध्वी', 'ऊषा की तरह तपस्विनी', 'प्रहरी की तरह प्रखर', 'पुरुषार्थवती', 'दैवी शक्ति से युक्त', 'नवदुर्गा की तरह व्यक्तित्व के कई रूपों वाली'। "उसका जीवन धर्म काव्य था। आहार विवाद उसका धन्य भाव था, सौन्दर्य संस्कार उसका स्वर सांमजस्य था।" "आत्मवैरसः में उसकी आत्मा वैष्णवी थी : चेतना की किरण श्रुति थी।"

द्विवेदी जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर इसी बहिन की 'साधना का आलोक' था। बहिन जिस साधना की साध्वी थी उसके उत्तराधिकार से द्विवेदी जी को वंचित कैसे रख सकती थीं। शुचिता और शुद्धता का संस्कार उन्होंने बहिन से ही पाया था। "जब तक वह जीवित रही उसने मुझे रंक और कुरूप नहीं होने दिया।" स्वयं कष्ट उठाकर स्वल्प वित से वह उनके जीवन को सुसज्जित करती रही। वह दुःख को स्वयं धारण करके सुख उन्हें देती रही। बहिन ने उनके जीवन की बाल-तरंगों को भंग नहीं होने दिया। द्विवेदी ने जी बहिन के प्रकाश में ही साहित्य समाज को देखा। बहिन ने मीरा की तरह काव्य के रूप-रंग और रस-अलंकार को अपनाकर एक सामाजिक क्रांति की थी। मर्यादा में छन्दोबद्ध होकर भी परम्परा का अन्धानुकरण नहीं किया था। "बहिन जो आत्मा की स्वर्ण दीप्ति थी और परमानंद थी आनंद ज्योति थी, उसके प्रकाश से उनका जीवन भी प्रकाशित होता रहा।" बहिन की मृत्यु के बाद जैसे द्विवेदी जी की 'सामाजिक मृत्यु' हो गयी थी। परंतु जीवन पर्यन्त वह उनकी प्रेरणा बनी रही। "वह जो पृथ्वी पर अपना किरण-चरण धर कर सच्चिदानंद का चिदाभास दे गयी। उसमें उसी परमात्मा की सगुण सुषमा थी। जीवन पथ में वह मेरी ध्रुवतारिका है। मैं उसी में एकाग्र हो जाता हूँ। सृष्टि में वह मेरे लिये शीर्ष-बिन्दु है।" बहिन को खोकर पहली बार द्विवेदी जी ने व्यक्तिगत सुख-दुःखों को समाजवादी दृष्टिकोण से देखा। बहिन के अभाव में पहली बार उनका परिचय जीवन की वास्तविकता से हुआ। पहली बार वे काव्य की सरलता से समाज की जटिलता के परिचय में आये। उसी ने उन्हें साहित्य में जीवित रखा। "बहिन को खोकर भी उसकी तपश्चर्या का तेज मेरे साहित्यिक स्वाभिमान में जीवित रहा।"

अपने जीवन के निर्माण काल में जिस समय द्विवेदी जी संघर्षरत थे और साहित्य क्षेत्र में प्रवेश कर रहे थे उनका सम्पर्क उस समय की कई जागृत प्रतिभाओं से हुआ जिनसे वे प्रभावित हुए। सन् 1920 में सेन्ट्रल कॉलेज के बोर्डिंग हाउस के छात्रावास की राह में उनकी भेंट मालवीय जी से हुई। जिनके दर्शनों से उनके धवल-उज्ज्वल व्यक्तित्व से प्रभावित हुए। हाथ से लिखकर निकाले गये मालवीय जी के मासिक पत्र से मालवीय जी के

प्रगतिशील विचारों से द्विवेदी जी का परिचय हुआ। तभी उनका परिचय मणिशंकर पंड्या जी से हुआ जिनका व्यक्तित्व द्विवेदी जी को सात्विक श्रव्य की तरह शांतिदीपक लगा। 'गौरवपूर्ण सौम्य मुख, स्वस्थ्य श्री शुभ शारद परिधान। उस दिव्य गुर्ज्जर व्यक्तित्व की सरलता, उज्ज्वलता, सहृदयता और भव्यता ने मेरे सन्तप्त जीवन में कपूर, चंदन और चाँदनी का आसव घोल दिया।' पंड्या जी से द्विवेदी जी को पथ-प्रदर्शन मिला। इसी दौरान द्विवेदी जी का परिचय पांडेय बेचन शर्मा उग्र जी से हुआ। "मंझोला क़द, नवीनवय के नए स्वास्थ्य से हृष्टपुष्ट सुगठित शरीर।" इनकी प्रेरणा से द्विवेदी जी सामाजिक सम्पर्क में आए। उग्रजी का एक नाम शशि मोहन भी था जो उनके हृदय का प्रतिनिधित्व करता था। परंतु दुनिया की जटिलताओं के बीच उनका यह शोभा सम्पन्न रूप पीछे छूट गया और उग्र रूप ही सामने आया। उग्रजी की पुस्तक तपस्वी ध्रुव से वे प्रभावित हुए। उग्रजी के माध्यम से ही उनका दूसरे साहित्यकारों से भी परिचय हुआ। श्री काशीनाथ पंढरी नाथ तैलंग से द्विवेदी जी को सहृदयता मिली। द्विवेदी जी ने लिखा "भारी डील-डौल के भीतर उनका कोमल हृदय जैसे भूधर के भीतर निर्झर हो।" प्रत्यक्ष सम्पर्क में जहाँ द्विवेदी जी उस समय के राजनीतिक नेताओं के दर्शनों से लाभान्वित हुए, वहाँ विभिन्न साहित्यकारों के सम्पर्क में भी आए। इनके अतिरिक्त उन्होंने विभिन्न पुस्तकों और जीवनियों से भी प्रेरणा ग्रहण की। उन्होंने जवाहर लाल नेहरू जी से साक्षात्कार की अपनी अनुभूति को व्यक्त किया "मैंने श्रद्धानत होकर मानो भारत के भविष्य का ही चरण-स्पर्श कर लिया। उस समय धोती, कुर्ता और गाँधी टोपी पहने नेहरू जी कोई सुदर्शन आर्यपुत्र जान पड़ते थे। उन्होंने मेरे किशोर मस्तक पर आशीर्वाद का हाथ रख दिया।"

प्रेमचंद जी से अपने परिचय के संबंध में द्विवेदी जी ने लिखा कि 'मर्यादा' जब बनारस से प्रकाशित होने लगी और प्रेमचंद ने बनारस को अपना कार्यक्षेत्र बनाया तो उनके सम्पर्क में आने का अवसर मिला। "सीधा-सादा पहनावा, सीधी-सादी चाल-ढाल।" प्रेमचन्द जी की सादगी और सुच्चेपन से अत्यधिक प्रभावित हुए। व्यक्तिगत रूप में होरी की तरह निराश और निःसहाय थे। प्रायः मायूसी की बातें करते थे, किन्तु प्रतिनिधि कलाकार की हैसियत से नवयुवकों को उत्साह देते रहते थे।

द्विवेदी जी ने लिखा "काशी विश्वविद्यालय की स्थापना सन् '21 में भदैनी में मेरे मुहल्ले में हुई। मुहल्ले का वही मैदान सभास्थल बन गया था जहाँ बचपन से मैं खेला करता था। मंच पर मोती लाल नेहरू और महात्मा गाँधी, बाबू राजेन्द्र प्रसाद, टंडन जी, श्रीमती सरोजिनी नायडू, डॉ. भगवानदास, सी. एफ. एन्ड्रयू सभी के भाषण सुने। सार्वजनिक सभाओं में भाग लिया। मेरी राष्ट्रीय जानकारी बढ़ी।" इसी दौरान द्विवेदी जी दूसरे कई महानुभावों के सम्पर्क में भी आए। पं. कमलापति त्रिपाठी, श्री प्रकाश जी ('आज' के प्रमुख सम्पादक), रायसाहब गोस्वामी रामपुरी, बाबू हरिदास माणिक,

आदरणीय पं. रामनारायण मिश्र, डॉ. सम्पूर्णानन्द, ब्रह्मचारी प्रभुदत्त, क्रान्तिकारी चन्द्र शेखर 'आज़ाद' बालकृष्ण शर्मा नवीन, मदन मोहन मिहिर, भगवती चरण वर्मा, प्रेमचंद, बाबू शिवपूजन सहाय, पं. कृष्ण बिहारी मिश्र, आचार्य पंडित केशव प्रसाद मिश्र, श्री मैथिलीशरण गुप्त, मुन्शी अजमेरी जी, श्री सियाराम शरण, पं. केदारनाथ पाठक, श्री विश्वेश्वर प्रसाद कोइराला, श्री भगवती प्रसाद चन्दोला, पं. केशवदेव शर्मा, बाबू विश्वनाथ प्रसाद, श्री दुलारेलाल भार्गव। गुरुदेव रविन्द्रनाथ और शरत चन्द्र से भी इनका साक्षात्कार हुआ।

प्रत्यक्ष सम्पर्क एवं परिचय के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने विभिन्न पुस्तकों एवं जीवनियों से भी प्रेरणा ग्रहण की। उन्होंने लिखा, "बाहरी जगत मेरे लिए बाह्य वायुमंडल था। मेरे भीतर की साँस नहीं बन सकता था। मैं चाहता था आत्मन्वेषण और अभ्यन्तर की अभिव्यक्ति।" इसी समय उन्हें स्वामी रामतीर्थ की जीवनी पढ़ने को मिली। द्विवेदी जी ने लिखा, "स्वामी रामतीर्थ के जीवन में एक भावात्मक अध्यात्म था, उसमें न तो साम्प्रदायिक जड़ता थी और न दार्शनिक शुष्कता। वह बड़ी सरलता से आत्मोन्मेष कर मनुष्य को उसकी अन्तसंज्ञा में मिला देता था। उनकी जीवनी पढ़कर मेरी आत्मा का उद्घाटन हो गया। मुझे जान पड़ने लगा मैं व्यक्ति नहीं, अपने आप में निखिल चेतन हूँ। भावना के भीतर जिस जीवन को उपलब्ध करना चाहता था वही स्वामी रामतीर्थ के आत्मदर्शन से मिल गया।" द्विवेदी जी में लेखक बनने की प्रेरणा जगी। श्री जेम्स ऐलन, स्वेट मार्टजन, एम्युअल इस्माइल की लिखी हिंदी में अनूदित पुस्तकों से भी द्विवेदी जी का पथ-प्रदर्शन हुआ। स्वयं काशी और प्रयाग के साहित्यिक वातावरण से भी उन्हें साहित्यिक प्रोत्साहन मिला। द्विवेदी जी पंत, प्रसाद, निराला और महादेवी इत्यादि कवियों की रचनाओं का स्वाध्ययन करते और काव्य-प्रेरणा ग्रहण करते रहे। आचार्य केशव प्रसाद मिश्र ने उन्हें रामायण पढ़ने को कहा जिससे वे अत्यधिक प्रभावित हुए। कथा के चित्र में प्रेमचंद से मिले भी और उनकी रचनाओं से प्रेरित भी हुए। शरत और विक्टर ह्यूगो की रचनाओं से जीवन व जगत की अनेकविध जानकारी मिली। रैनाल्ड्स के 'लन्दन रहस्य' ने भी द्विवेदी जी को आकृष्ट किया जिसमें कविता और उपन्यास दोनों का आनन्द है। इसमें सौन्दर्य तथा यौवन के उन्मादन चित्र तो हैं पर मानवीय करुणा का स्पर्श भी है।

अपनी कोमलता, सहृदयता और संवेदनशीलता के कारण द्विवेदी जी जहाँ साहित्य में छायावाद की ओर आकृष्ट हुए वहाँ जीवन और साहित्य पर गाँधीवादी विचार-धारा और जीवन दर्शन का विशेष प्रभाव पड़ा। द्विवेदी जी ने 'सामयिकी' के दो शब्द में लिखा—"गाँधीवाद अन्तःस्पन्दन की भाँति अन्तस् में था। वही अन्तःस्पन्दन (गाँधीवाद) मुख्य संवेदन बन गया। स्वयं मेरा दैनिक जीवन तो वास्तविकताओं का भुक्तभोगी है किन्तु मनुष्य के जीवन का उद्देश्य दैनिक अभाव-भराव के ऊपर है, अतएव मैं सांस्कृतिक

प्रयत्नों को विशेष महत्त्व देता हूँ। द्विवेदी जी के अनुसार गाँधीवाद इसलिए भी श्रेष्ठ है क्योंकि यह आस्तिक दर्शन है। यह युगधर्म तो है ही, सत्य सनातन धर्म भी है। यद्यपि सामाजिक समस्याओं को समाजवाद के द्वारा सुलझाया जा सकता है। इसको द्विवेदी जी ने आपद्धर्म के रूप में स्वीकारा है। परंतु स्थायी निदान गाँधीवाद ही है। क्योंकि गाँधीवाद अन्तःकरण की आत्म-नीति है और समाजवाद 'बाह्यकरण व राजनीति है।' अपने जीवन के कटु अनुभवों से, आर्थिक अभावों और सामाजिक व्यतिक्रमं से प्रताड़ित होकर द्विवेदी जी ने अनुभव किया था कि सबसे बड़ी कमी समाज में स्नेह और सहयोग के अभाव की है। आज स्थिति यह है कि धनियों के धनी हैं, निर्बलों के ईश्वर। "व्यक्तिगत सुख-दुःखों को मैं समाजवादी दृष्टिकोण से देखने लगा।" बहिन की मृत्यु के बाद उन्हें पहली बार जीवन की वास्तविकता का बोध हुआ और पहली ही बार काव्य की सरलता से समाज की जटिलता के परिचय में आया। तथापि द्विवेदी जी ने समाजवाद की अपेक्षा गाँधीवाद को ही लक्ष्य माना। उन्होंने लिखा, "मैं अभावों में भी अपने लक्ष्य में विचलित नहीं होना चाहता। — सरस्वती की आराधना में निष्ठावान ब्राह्मण की तरह एकाग्र हूँ। सर्वहारा होकर भी आत्महारा नहीं हूँ।" वैसे भी द्विवेदी जी के संस्कार और उनकी गहन वृत्ति गाँधीवाद के ही निकट थी। उन्होंने लिखा, "पिता का तापस संस्कार, बहिन का करुण कोमल आभिजात्य और मेरे श्रुति मन्द श्रवणों का नीरव एकान्त : यह सब कुछ स्वतः एक ऐसा सेन्सर बन गया कि मैं बाहरी दुनिया का कुछ भी गुन-सुन नहीं सका। अगाध जल में तिरने वाली मछली की तरह मेरी आत्मा को जीवन की उथली सतह से सन्तोष नहीं मिलता था।" 'गाँधीवाद का आधार संस्कृति है', 'अहंकार का विसर्जन' और 'आत्मोत्सर्ग का उन्नयन है'। अर्न्तबोध और आत्मनिष्ठा की सहज प्रेरणा को जाग्रत करता है। गाँधी जी को द्विवेदी जी ने 'आध्यात्मिक वैज्ञानिक' कहा। जिनके लिए जीवन 'आत्मा की प्रयोगशाला' है। द्विवेदी रवीन्द्र और शरत् से भी उनके इसी सांस्कृतिक संस्कार और सगुण-गुण के कारण प्रभावित हुए। उन्होंने गाँधी, रवीन्द्र और शरत् को 'वर्तमान भारतीय साहित्य के त्रिदेव' कहा। द्विवेदी जी ने रवीन्द्र के व्यक्तित्व को 'सन्तुलित' माना और कहा, "उनमें एक ओर बापू की निर्लिप्तता है दूसरी ओर शरत् की लिप्तता"। शरत् ने अपने उपन्यासों द्वारा नयी सामाजिक चेतना को विकसित किया था। "कलाकार जिस तरह भाषा को व्याकरणों के जटिल नियमों से मुक्त करता है उसी तरह शरत् ने मानव समाज को जड़ नियमों से स्वतंत्र किया।" परंतु शरत् द्वारा व्यंजित समाज को बाह्य विषमता में आंतरिक सामंजस्य अनुस्यूत रहा। शरत् ने स्त्री को केवल मुक्त ही नहीं किया उसकी मुक्ति को शक्ति भी दी। द्विवेदी जी ने लिखा, "शरत्चन्द्र ने देखा कि धार्मिक विधि-निषेधों की अनुवर्तिनी-नारी अपनी साधना से न तो अपने जीवन को सुफल बना पाती है और न साधना के पुजारियों तथाकथित चरित्रहीनों को सामाजिक सहयोग दे पाती है, उल्टे जिनके अन्ध-अनुशासन ने मानवता को अभिशप्त कर दिया है उन्हीं की वह गौरव सिद्धि बन जाती है। अतएव, मानवता की ही शक्ति बन जाने के लिए शरत् ने नारी के

भीतर की सामाजिक क्रांति को ऊर्जस्वी कर दिया। 'शेष प्रश्न' में वही नारी पार्वती से शिवानी बन गयी। "अपने बौद्धिक चिन्तन द्वारा समाज की निर्जीव रूढ़ियों से बहिर्भूत होकर शिवानी जीवन के मुक्ति-पथ में विलासिनी नहीं, उल्लासिनी है। उसके आहार विहार में अन्तर्विवेक है, वह राजहंसिनी है।" इस तरह शरत् ने नारी को 'शेष प्रश्न' में आसक्ति का एक नवीन व्यक्तित्व दिया।" नारी अब भी वही मानती है, किन्तु वह वैष्णवों की राधा न होकर शैवों की भवानी हो गयी है। वह जीवन की साधना जीवन्मृत होकर नहीं, जीवनमयी होकर करती है। अब वह करूणाकरण की करुण प्रतिमा नहीं सच्चिदानंद की ज्योतिष्मती है। वह सामाजिक अभिशापों या नैतिक रूढ़ियों को ही वरदान मानकर सन्तुष्ट नहीं हो जाती। आज के आधिभौतिक युग में जिस आत्मजागरूक नारी की आवश्यकता थी उसे शरत् बाबू छोड़ गये हैं शिवानी के रूप में। शरत् की नारी भावना पर द्विवेदी जी ने विस्तार से विचार किया। वास्तव में द्विवेदी जी स्वयं इसी चैतन्य नारी के समर्थक थे। द्विवेदी जी गाँधीवाद को गन्तव्य तो मानते हैं पर समाजवाद या प्रगतिवाद को उसका बाधक नहीं बल्कि गाँधीवाद के लिए मानवता की एक सतह तैयार करने में सहायक हैं। गाँधीवाद और प्रगतिवाद दोनों गत्यात्मक हैं। मूल अन्तर यह है कि गाँधीवाद धर्म को प्रधानता देता है और प्रगतिवाद अर्थनीति को। प्रगतिवाद अर्थनीति का मानवीकरण चाहता है, यन्त्रीकरण नहीं चाहता। समाजवाद या प्रगतिवाद के बीच कला को प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार करते हैं। आज की समस्याओं को सुलझाने के लिए माध्यम का सही चुनाव आवश्यक है। धर्म और अर्थ माध्यम नहीं हो सकते, वे जीवन के लक्ष्य-उपलक्ष्य हो सकते हैं, माध्यम कला ही हो सकती हैं।

गाँधीवाद और समाजवाद में एक और अन्तर द्विवेदी जी के अनुसार संस्कृति और विज्ञान का अन्तर है। गाँधीवाद में सांस्कृतिक समाजवाद है जबकि प्रगतिवाद में वैज्ञानिक समाजवाद। मार्क्स ने जिस कला को स्वीकार किया वह मशीनी कला थी, मानवीय नहीं। जबकि गाँधीवाद में कला और संस्कृति मानवीय है। इसलिए आज के युग की समस्याएँ आत्मनियम की हैं, इसलिए सांस्कृतिक है। जैसे जनसंख्या का आतंक फैला है किन्तु भोगवाद के कारण अधिक अपव्यय और वस्तुओं का पूँजीवादी वर्ग में संग्रह को जनंसख्या का बहाना बना दिया। यह स्थिति भ्रमात्मक है। इसका समाधान यन्त्रों की अपार उन्नति और उत्पादन बढ़ाने में नहीं है। मित्राचार और आत्मनियमन तथा अन्तर्विवेक द्वारा इन समस्याओं का समाधान हो सकता है। कला, राजनीति और संस्कृति के समन्वय द्वारा युगव्यापी प्रश्नों का उत्तर प्राप्त होगा। समाजवाद या प्रगतिवाद की आवश्यकता द्विवेदी जी के अनुसार जनता को रुढ़िग्रस्त होने से बचाना है, दूसरी ओर सामन्तवाद और पूँजीवाद को पंगु बना देना है। आज की विषम सामाजिक व्यवस्था में जनसाधारण अभावग्रस्त है और सम्पन्न वर्ग विलासग्रस्त। समाजवाद इस यथार्थ की ओर ध्यान खींचता है। द्विवेदी जी ने पन्त और यशपाल का प्रगतिवाद के प्रतिनिधि रचनाकारों के रूप में विवेचन किया। इस दृष्टि से ये विचारधाराएँ उनके व्यक्तित्व निर्माण में सहायक बनीं।

आर्थिक संघर्ष और साहित्यिक जीवन का प्रारंभ

द्विवेदी जी ने अपने संबंध में लिखा कि उनका जीवन आरंभ से अन्त तक अभाव और आर्थिक संघर्ष का जीवन था। "अभाव मेरे लिए अभिशाप भी था और वरदान भी। अभिशाप इसलिए कि मुझे सुदृढ़ स्वास्थ्य नहीं मिल सका, वरदान इसलिए कि मैं ब्राह्मण ही बना रहा — यदि मेरे भीतर ब्राह्मण का संस्कार न होता तो अभाव मुझे न जाने किस कर्म क्षेत्र की ओर ले जाता। इस व्यावसायिक आर्थिक युग में न जाने मुझे किस अधःपतन का अनुचर बन जाना पड़ता। — स्वभावतः साहित्य क्षेत्र में चला आया। जन्म का ब्राह्मण कुमार कर्मक्षेत्र में सरस्वती कुमार हो गया।"

द्विवेदी जी अभाव और कष्टों में भी संस्कार एवं स्वाध्याय को जीवन का सम्बल बनाकर चले। भूख-प्यास से विकल रहते हुए भी केवल आर्थिक दृष्टि से और किसी काम में मन नहीं लगा सकते थे। उन्हें मानसिक स्वास्थ्य भी अभीष्ट था। उनकी लिखावट अच्छी थी। प्रतिलिपिकार का काम मिला पर उन्होंने उसे छोड़ दिया। "मैं निर्जीव यन्त्र नहीं था कि आपा खोकर दूसरों की नक़्ल करता रहता। रचनाकार की तरह मैं प्राणों का स्वतंत्र स्फुरण चाहता था।"

"तुतलाहट टूटने पर शिशु जिस तरह नये-नये शब्दों, नयी-नयी अभिव्यंजनाओं, नयी-नयी प्रेरणाओं को ग्रहण करता और फिर जो कुछ भा जाता उसका अनुसरण करता है, उसी तरह मैं भी अपने चारों ओर की सृष्टि और संसरण कर रहा था।"

द्विवेदी जी पाँचवी कक्षा में थे जब उन्होंने गणित और व्याकरण जैसे दुर्बोध विषयों को अपने लिए सुबोध बनाया और उसी ढंग से इन दोनों विषयों पर दो पुस्तकें लि''ीं। गणित की पुस्तक उन्होंने अपने एक साथी को दी जो उसने वापिस नहीं दी। दूसरी व्याकरण की पुस्तक मास्टर छेदीलाल ने जब्त कर ली। वास्तव में द्विवेदी जी का साहित्य जगत में यह पहला चरण था। छात्र जीवन में ही काव्य के प्रति उनमें अनुराग था और उन्होंने कुछ तुकबंदियाँ भी की थी। "उस समय में अबोध और भावुक किशोर था पर बचपन से ही मुझमें काव्यानुराग था।" सन् 1920-21 में दैनिक 'आज' में मुच्छन द्विवेदी के नाम से 'सम्पादक के नाम' उनका एक पत्र प्रकाशित हुआ। अपना नाम प्रकाशित देखकर उन्हें

अच्छा लगा और प्रेरणा मिली। 'आज' में इसके बाद उनके सम्वाद प्रकाशित होते रहे। सबसे पहली कहानी 'स्त्री दर्पण' मासिक पत्रिका में छपी जिससे द्विवेदी जी ने लेखक बनने का प्रयत्न शुरू किया। 'विद्यार्थी' में लेख छपे। सन् '23 में प्रयाग से प्रकाशित होने वाले 'विद्यार्थी' और सन् 29-30 की अजमेर से प्रकाशित 'त्यागभूमि' में प्रकाशित लेखों का संग्रह 'जीवन यात्रा' के नाम से प्रकाशित हुआ।

प्रेमचंद जी से पत्र पाकर सन् 1924 में उन्हें 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग में किरानी का काम मिला। परंतु कार्यालय में किरानियों के प्रति कटुता और भार्गव जी के रोष के आतंक से उन्हें नौकरी छोड़नी पड़ी। " प्रतिदिन एक आतंकपूर्ण वातावरण में सहमे और सकपकाये रहना बरदाश्त नहीं कर सके। लखनऊ के उस प्रवास में उन्हें पंडित कृष्ण बिहारी मिश्र और बाबू शिव पूजन सहाय का साहित्यिक सत्संग प्राप्त हुआ। 'मतवाला' में निराला जी की कविताएँ धारावाहिक रूप से छप रही थी। भाषा, भाव और छन्द से अनभिज्ञ होते हुए भी ध्वनि एवं लय से ही द्विवेदी जी उनकी रचनाओं का मर्म-स्पर्श करने लगे। इसी समय वे पन्त जी की कविताएं 'नक्षत्र', 'मौन निमन्त्रण' इत्यादि से भी प्रभावित हुए। इसी समय राय कृष्णदास की 'साधना' से प्रभावित होकर गद्यकाव्य लिखना प्रारंभ किया जो 'प्रभा' में प्रकाशित हुआ। लेखन कार्य स्वान्तः सुखाय था। आजीविका के लिए कोई निश्चित आधार न होते हुए भी वायुमण्डल में जिधर से भावना की गन्ध मिलती उधर ही जीवन पाने की आशा से चल देते। अब तक जो निबंध द्विवेदी जी ने लिखे थे वे नैतिक थे। लेकिन अब वे कला जगत में प्रवेश कर चुके थे। 'स्त्री दर्पण' में कहानी-साहित्य पर लेख लिखा था और अब 'समालोचना का महत्त्व' लेख लिखा जो 'मनोरमा' में प्रकाशित हुआ। यह लेख उनके साहित्यिक भविष्य का सूचक बना। यह समय था जब वे निराला की कविताओं से काव्य-प्रेरणा ले रहे थे। इसी समय प्रसाद जी से भेंट की। अनुभव के विषय में द्विवेदी जी ने लिखा, "उनके चारों ओर का वातावरण असाहित्यिक था। तब क्या जानता था कि कलाकार अपनी साधना अन्तःकरण से करता है।" प्रसाद की अपेक्षा निराला की कविताओं से अधिक प्रभावित हुए। उनकी "काव्य भाषा में कुछ ऐसी सरसता और सजीवता थी जो हृदय को उद्बुद्ध करती थी। उनके मुक्त छन्द में उनके व्यक्तित्व का उद्घोष था।" स्वर्गीय हरिकृष्ण 'जौहर' की प्रेरणा से 'मौजी' में काम करने के लिए कलकत्ते गये। लेकिन वहाँ अपने नाम के विपरीत इस पत्रिका की स्थिति गमगीन थी। पैसे के अभाव में कर्मचारियों को कष्ट झेलना पड़ता था। इसे छोड़कर कुछ दिन 'गोलमाल' में काम करने के लिए कलकत्ते में ही रुक गये। परंतु ये दोनों ही पत्र 'हास्य रस' के थे जो द्विवेदी जी के स्वभाव एवं वृति के अनुकूल नहीं थे। उन्होंने लिखा, "जिसके जीवन में मौज नहीं, उसे हास्य रस के पत्र का सम्पादन करना पड़े। यह स्वयं मेरे साथ नियति का कितना बड़ा परिहास था। अनाधिकार प्रयास छोड़कर तीर्थभूमि में चला आया।"

इन दिनों छायावादी काव्य पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी इत्यादि की कविताओं से सम्पन्न हो रहा था। द्विवेदी जी के मन में छायावाद की कविताओं का एक सुरुचिपूर्ण संग्रह तैयार करने का विचार आया और वे कार्य करने लगे। सन् 1926 में 'परिचय' नाम से यह संग्रह प्रकाशित हुआ। इसमें द्विवेदी जी ने छायावादी कवियों की कविताओं के आधार पर उनकी काव्यात्मकता का भावात्मक परिचय दिया था। यह संग्रह उस समय सर्वथा मौलिक प्रयास था। जो साहित्यिक जगत में द्विवेदी जी का परिचय बन गया। काव्य प्रेमियों ने उसका स्वागत किया और हिन्दू विश्वविद्यालय में एम.ए. (हिन्दी) के पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर लिया गया।

परन्तु आजीविका के लिए इस ग्रंथ के प्रकाशन से पूर्व ही उन्हें कलकत्ता 'उपन्यास तरंग' मासिक पत्र में प्रूफ-संशोधन का काम मिल गया था और वे वहाँ चले गये थे।

द्विवेदी जी के कलकत्ते से लौटने पर 'एक मुट्ठी अन्न और छोटा-मोटा कपड़ा' की सीमित आवश्यकताओं के साथ प्रसाद जी के निमन्त्रण पर उनके यहाँ रहने लगे। पर बीच में बहिन से मिलकर लौटे तो प्रसाद जी ने स्वागत नहीं किया। "जान पड़ता है, प्रसाद जी से मन नहीं मिलाकर मैं उनका काव्यानुरंजन नहीं कर सका। मुझमें सभा चातुर्य नहीं था। ओस बिन्दु की तरह मेरा अपना एक नन्हा-सा स्वतंत्र अस्तित्व था।"

कलकत्ते से प्रकाशित 'विशाल भारत' में द्विवेदी जी के कई आलोचनात्मक लेख छपे। इन्हीं दिनों सन् 1927 में रविबाबू, शरत् और ह्यूगो की रचनाएँ पढ़ी, जिनमें उन्हें एक नयी मनोवैज्ञानिक दृष्टि मिली। अपनी सामाजिक वस्तु-स्थिति का भी बोध हुआ।

द्विवेदी जी ने लिखा, "यदि मेरी आर्थिक स्थिति ठीक होती तो मैं पुस्तकालय में केवल स्वाध्याय ही करता रहता। — नौकरी के बन्धन में भी अध्ययन करता रहता।"

सन् 1927 में 'भारती भण्डार' (काशी) के साथ कार्य प्रारंभ किया। प्रेस-कापी, प्रूफ-संशोधन, वक्तव्य लिखना इत्यादि सारा काम द्विवेदी जी के जिम्मे था। यहाँ से प्रसाद जी की और रायसाहब जी की ही रचनाएँ प्रकाशित हुई। यहीं से द्विवेदी जी की कविता 'नीरव' भी प्रकाशित हुई। द्विवेदी जी ने लिखा, "प्रसाद जी, गुप्त जी, रायसाहब वयक्रम से साहित्य में मेरे अग्रगण्य थे ही, समाज में अपनी आर्थिक स्थिति से मेरी अपेक्षा गणमान्य थे। मैं था अकिंचन — ब्राह्मणकुमार और ये लोग थे वैश्यकुल भूषण। साहित्य क्षेत्र में थोड़ा-बहुत रस मिल जाता, किन्तु समाज में मेरे लिये कोई जीवन नहीं था। जिन साहित्यिक महारथियों के सम्पर्क में आया उनकी आर्थिक स्थिति मुझसे अच्छी थी। — मेरी स्थिति निर्जन और निर्धन सर्वहारा से भी अधिक निराधार थी।"

उधर भारती भण्डार में रायसाहब की आर्थिक स्थिति बिगड़ने से नाम-मात्र का जो वेतन मिलता था वह भी उन्हें नहीं मिल रहा था। "परिश्रम के अनुसार पोषण न मिलने से

शरीर और मस्तिष्क अत्यन्त क्षीण हो गया।" इसलिए उन्होंने सन् '32 में 'भारती भण्डार' छोड़ दिया। आजीविका की समस्या मुँह बाए खड़ी थी। इन्हीं दिनों उनकी हरिदत्त जोशी के साथ मित्रता हुई और लक्सा के कोचिंग इन्स्टीट्यूट में उन्हीं के कारण अध्यापन-कार्य मिल गया। जीवन में पहली बार वे अध्यापक बने। डाक्टर गोडबोले के यहाँ ट्यूशन कार्य भी मिला। आर्थिक सुविधा और नियमित आहार-विहार से स्वास्थ्य लाभ हुआ।

सन् '34 में इलाहाबाद आकर रहने लगे और साहित्यिक कार्य में व्यस्त हो गये। जीवन के प्रारंभ में साहित्य स्वान्तः सुखाय था पर अब वही आजीविका का आधार बना। श्रमजीवी शिल्पी की तरह दैनिक 'भारत' में नियमित रूप से साहित्यिक लेख लिखकर छपने के लिए देने लगे। बाद में पंडित केशवदेव शर्मा ने जो 'भारत' के सम्पादक थे टालस्टाय की अन्ना केरिनिना पर लिखे द्विवेदी जी के लेख से प्रभावित होकर द्विवेदी जी को 'भारत' के सम्पादकीय विभाग में ले लिया। वहाँ काम करते हुए ही सन् '34 में 'हमारे साहित्य निर्माता' का प्रकाशन हुआ। यह पहला आलोचनात्मक ग्रंथ था जो हाईस्कूल का सहायक पाठ्यक्रम बना और साहित्य जगत की नयी पीढ़ी ने इसका विशेष स्वागत किया। छायावादी कविता का मर्मोद्घाटन सबसे पहले इसी पुस्तक द्वारा हुआ। अपनी मनोवृत्ति का विश्लेषण करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा—"ऊपर से आरोपित ज्ञान मुझमें जम नहीं पाता था। स्वयं रूह की तरह मैं अपने भीतर से ही उगना चाहता था। मेरा अन्तःकरण अनुभूति से ही अंकुरित होता आया है, स्वाध्याय से उसे जल, वायु, खाद्य और प्रकाश मिलता रहा है।"

इसके बाद ही 'हमारे साहित्य निर्माता' का प्रकाशन हुआ। 'नीरव' और 'हिमानी' दो कविता संकलन प्रकाशित हुए जिनमें सन् '24 से सन् '34 तक की लिखी कविताओं का संग्रह था।

सन् 1935 में 'भारत' का काम छूट गया। पन्त जी ने 'बालसखा' में काम करने का परामर्श दिया। तथा प्रेमचंद जी से परिचय हुआ। सीधा-सादा पहनावा, सीधी-सादी चालढाल। उन दिनों 'मर्यादा' बनारस से निकल रहा था। तब बनारस ही प्रेमचन्द जी का कार्य क्षेत्र बन गया और द्विवेदी जी प्रेमचन्द जी के सम्पर्क में आए। उनकी सादगी और सुच्चेपन ने उन्हें प्रभावित किया। 'वे कान से कम सुनते थे। व्यक्तिगत रूप में होरी की तरह निराश और निःसहाय थे।'

सन् 1936 में बनारस लौट कर 'हंस' के सम्पादन कार्य में सहयोग देने लगे। सन् 1938 में 'साहित्यिकी' का प्रकाशन हुआ। डा. रामकुमार वर्मा ने इसकी अत्यधिक प्रशंसा की। बनारस से प्रकाशित 'कमला' में कार्यभार सँभाला। साथ ही 'संचारिणी' पर भी काम कर रहे थे। सन् 1939 में 'संचारिणी' का प्रकाशन और बहिन कल्पवती का देहान्त

साथ-साथ हुए। बहिन की मृत्यु को इन्होंने स्वाभाविक नहीं माना और लिखा, "जीवन-मरण तो सृष्टि का अनिवार्य क्रम है। किन्तु वह मरण दुःखदायी है जो समाज द्वारा किये गये व्यतिक्रम से जीवन के न पनप पाने के कारण पछतावा दे जाता है।" बहिन की मृत्यु से द्विवेदी जी पर जैसे वज्रपात हो गया। उनका एक-मात्र जीवनावलम्ब न रहा। वात्सल्य सुलभ इनकी बहिन भी इनसे दूर चली गयी।

सन् 1940 में 'युग और साहित्य' प्रकाशित हुआ। सन् 1941 में 'कमला' छोड़कर आर्थिक दृष्टि से फिर निरवलम्ब हो गया। पंजाब के विद्यार्थियों में 'संचारिणी' का अच्छा प्रचार होने से 'सामयिकी' अगली पुस्तक लिखने के लिए उन्हें आर्थिक अवलम्ब मिल गया। पर धनाभाव के कारण विवाह न कर पाने की कुंठा भी द्विवेदी जी भीतर पालते रहे। उन्होंने लिखा कि सन् 1932 में रोटी की समस्या से मेरा मस्तिष्क क्षीण हो गया था, सन् 1943 में सेक्स की समस्या से शरीर अस्वस्थ हो गया। — सच तो यह है कि आज आर्थिक स्वार्थों को लेकर ही सामाजिक संबंध बने हुए हैं। तन, मन, धन — इन तीनों में धन ही प्रधान होकर तन-मन का मूल्य निर्धारित करता है। — आज मनुष्य सामाजिक प्राणी नहीं आर्थिक प्राणी है। — आर्थिक हानि-लाभ को लेकर परस्पर जुड़ने-टूटने वाले संबंधों का नाम समाज पड़ गया है।"

द्विवेदी जी ने लिखा कि 'सामयिकी' लिखते समय आहार-विहार की असुविधा से शरीर मृत प्राय हो गया था, किन्तु वलमीक के भीतर ढके जीव की तरह चेतना भीतर स्पंदित हो रही थी। — मनुष्य के जीवन का उद्देश्य दैनिक अभाव के ऊपर है। इस तरह सामयिकी बनारस की जीर्ण-शीर्ण परिस्थितियों में पूरी हुई।

सन् 1944 में वीरेन्द्र कुमार जैन के अनुरोध पर 'वीणा' का सम्पादन करने के लिए इन्दौर चले गये। वहाँ पर प्राकृतिक वातावरण से स्वास्थ्य लाभ तो हुआ परंतु एकरस नीरसता से तन-मन विषण्ण हो गया और द्विवेदी जी बनारस लौट आए।

'पथ चिन्ह' लिखनी प्रारंभ की। 1946 में इस कृति का प्रकाशन हुआ और सन् 1948 में 'धरातल' छपी। सन् 1951 में 'ज्योतिविहग' रचना छपी। इसमें तटस्थ परिदर्शक की तरह पंत जी का सम्पूर्ण कृतियों का अनुशीलन-परिशीलन है। इसी दौरान रुग्णता ने आ घेरा। "जरा-सा आयास से काम करने से थकान मालूम होती। — इस विकट बीमारी ने जैसे मेरी समस्त स्नावयिक शक्ति को चूस लिया।" — अंतिम वर्षों में वे भदैनी के लोलार्क कुण्ड में रहने लगे थे। मृत्यु के पूर्व उदर के भयानक रोग से अनवरत संघर्ष करते हुए वे टूट गये थे। उन्हें अपनी मृत्यु का पूर्वाभास भी हो गया था। उसी निराश मनःस्थिति में मर्मान्तक व्यथा सहते हुए 27 अगस्त सन् 1967 को द्विवेदी जी का काशी में ही स्वर्गवास हो गया।

इस प्रकार द्विवेदी जी की साहित्य-रचना और आर्थिक संघर्ष जीवनपर्यन्त साथ-साथ ही चले। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के दफ्तरों में किरानी से सम्पादन तक के कार्य द्वारा आर्थिक स्वावलम्बन ढूँढ़ते रहे। वहाँ निबन्ध, आलोचना, गद्य-काव्य और कविताएँ इत्यादि लिखकर विपुल साहित्य की रचना की। कविता में इनकी दृष्टि छायावादी थी और आलोचना में समन्वयवादी। उनके निबन्ध लेखन पर शुक्ल जी का भी किंचित् प्रभाव है। उपन्यास में प्रेमचंद के बाद के उपन्यासकार हैं। आत्मकथा और संस्मरण साहित्य में आत्माभिव्यक्ति ही प्रधान है।

द्विवेदी जी बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार थे जिन्होंने साहित्य की विभिन्न विधाओं में समान रूप से लिखकर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। द्विवेदी जी का जीवन अपने समय की विसंगतियों को और साहित्य अपने युग की प्रवृत्तियों को समाहित किए हुए हैं। द्विवेदी जी ने दर्शन, संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, परम्परा, आधुनिकता, राजनीति, समाजशास्त्र और साहित्य में निहित जीवन-मूल्यों का विवेचन विश्लेषण किया। परन्तु वे कभी भी राजनीति से प्रेरित मतवादों और विवादों में नहीं उलझे। अपनी समन्वयवादी दृष्टि से समकालीन समस्याओं पर विचार-विमर्श किया। इस प्रकार द्विवेदी जी का संघर्ष ही उनकी प्रेरणा का स्रोत बनता गया।

रचनाएँ

शांतिप्रिय द्विवेदी बहुमुखी प्रतिभा के रचनाकार थे। उन्होंने साहित्य की सभी विधाओं में लिखा। किशोरावस्था से ही लिखना शुरू करके विभिन्न विधाओं में अनवरत रूप से जीवन के अंतिम समय तक लिखते रहे। द्विवेदी जी ने आलोचना, निबन्ध, उपन्यास और काव्य की सताइस रचनाओं का प्रणयन किया। इनमें से दो कृतियाँ अप्राप्य हैं। शेष का संक्षिप्त परिचय काल — क्रमानुसार इस प्रकार है।

(1) परिचय — सन् 1927 में साहित्य सदन, चिरगाँव से प्रकाशित काव्य-ग्रंथ में विभिन्न कवियों की कविताओं के आधार पर उनका भावात्मक परिचय प्रस्तुत किया। द्विवेदी जी की यह पहली रचना थी जिसके माध्यम से उन्होंने साहित्य जगत में प्रवेश किया और लोकप्रियता भी पायी। यह कृति हिन्दू विश्वविद्यालय में एम.ए. के पाठ्यक्रम में स्वीकृत भी हुई।

(2) नीरव — सन् 1929 में भारती भंडार, लीडर प्रेस, काशी से प्रकाशित हुई। यह द्विवेदी जी की सैंतीस मौलिक कविताओं का संग्रह है।

(3) हिमानी — सन् 1934 में हिन्दी मंदिर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित दूसरी मौलिक काव्य-कृति है। इसमें इक्कीस कविताएँ हैं और इन पर पन्त जी के 'गुंजन' काव्य का प्रभाव लक्षित होता है। अधिकतर कविताओं में प्रकृति के विविध रूपों द्वारा द्विवेदी जी ने अपने हृदयगत उद्‌गारों को व्यक्त किया है।

(4-5) मधु संचय और मोतियों की लड़ी — काव्य पुस्तकें हैं, जो अप्राप्य हैं। मधु संचय में व्रजभाषा के श्रृंगारिक कवियों की रचनाओं का संकलन है।

(6) हमारे साहित्य निर्माता — सन् 1935 में ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर से प्रकाशित हुई। यह व्यावहारिक आलोचना की पुस्तक है जिसमें महावीर प्रसाद द्विवेदी, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचंद, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी इत्यादि साहित्यकारों के जीवन परिचय, साहित्य क्षेत्र में उनका पदार्पण, साहित्य के प्रति दृष्टिकोण, विचारधारा, भावात्मक विकास तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों का विस्तृत परिचय दिया गया है। इसमें संगृहीत निबंध हैं — महावीर

प्रसाद द्विवेदी, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचंद, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, रायकृष्ण दास, राधिकारमण प्रसाद सिंह, माखनलाल चतुर्वेदी, सुमित्रानंदन पंत, सुभद्रा कुमारी चौहान, महादेवी वर्मा।

(7) साहित्यिकी — सन् 1938 में इस निबंध-संग्रह का प्रकाशन हुआ। प्रस्तुत ग्रंथ में भावात्मक, संस्मरणात्मक, सैद्धान्तिक और वैचारिक निबंधों का संग्रह है। इन निबंधों में द्विवेदी जी की मानवीय जीवन-दृष्टि, शरत् साहित्य की समालोचना, टालस्टाय की यात्रा, अन्ना केरिनिना का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, सौन्दर्य एवं प्रेम की शास्त्रीय व्याख्या, समालोचना साहित्य का विकास, आधुनिक साहित्य का मूल्यांकन, प्रसाद का जीवन-दर्शन और विचार-धारा, प्रेमचंद के गोदान की समीक्षा, साकेत की उर्मिला के हृदयगत-भाव, पन्त प्रगतिशील कवि के रूप में, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बाल्य जीवन की झाँकी इत्यादि विपयों का विवेचन विश्लेषण हैं। इसमें संगृहीत निबंध हैं, प्रेमपूर्ण मानवता की पुकार, शरत् की औपन्यासिक सहृदयता, मानव समाज की एक समस्या — अन्ना, ब्रज-भाषा का माधुर्य विलास, नव पलकों में सौन्दर्य और प्रेम, औपन्यासिकता पर एक दृष्टि, कवि और कहानी, काशी के साहित्यिक हास्य रसिक, भारतेन्दु जी का साहित्यिक हास्य, समालोचना की प्रगति, प्रवास, हमारे साहित्य का भविष्य, महापथ के पथिक प्रसाद, गोदान और प्रेमचंद, सांस्कृतिक कवि मैथिलीशरण गुप्त, साकेत में उर्मिला, गार्हस्थिक रचनाकार सियाराम शरण, एकान्त के कवि मुकुटधर, गद्यकार निराला, प्रगतिशील कवि पन्त, 'नीहार' में करुण अध्यात्म की कवि महादेवी : एक अतीत स्वप्न, कवीन्द्र : एक बाल्य झलक।

(8) संचारिणी – सन् 1939 में इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित निबंध संग्रह है। द्विवेदी जी ने इसे अब तक के विभिन्न साहित्यिक प्रयासों की श्रृंखला में माना। इसमें भावात्मक और साहित्यिक निबंध संगृहीत किये गये हैं। इन निबंधों में द्विवेदी जी की समन्वयात्मक और रचनात्मक दृष्टि का परिचय मिलता है। इन निबंधों के अन्तर्गत द्विवेदी जी ने भक्तिकाल के साहित्य की मूल चेतना का उद्घाटन किया है। जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' को ब्रजभाषा का अंतिम प्रतिनिधि कवि माना है, शरत् साहित्य का इनकी परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन किया है, कला में जीवन हित की धारणा पर विचार किया है। छायावाद और उसके बाद की काव्य प्रवृतियों का विवेचन किया है। छायावाद के प्रमुख कवियों, आधुनिक गीति-काव्य की स्थिति पर और गीतकारों पर विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसमें संगृहीत निबन्ध हैं – भक्तिकाल की अन्तश्चेतना, ब्रजभाषा के अंतिम प्रतिनिधि, शरत् साहित्य का औपन्यासिक स्तर, कला में

जीवन की अभिव्यक्ति, कला-जगत और वस्तु-जगत, भारतेन्दु युग के बाद की कविता, नवीन मानव साहित्य, छायावाद का उत्कीर्ण, हिंदी गीति-काव्य, कवि का आत्म जगत्।

(9) युग और साहित्य—सन् 1940 में इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। यह भी निबंध संग्रह है और इसके निबंधों में सन 1940 के आसपास की साहित्यिक सामाजिक और राजनीतिक गतिविधियों का निरुपण हुआ है 'अपनी बात' में द्विवेदी जी ने लिखा, 'इसके निबंधों में युग-द्वन्द्वों और तज्जनित भावी संभावनाओं को व्यक्त किया गया है। इसमें "द्वन्द्व नहीं ऐक्य, विभाजन नहीं संयोजन, वैषम्य नहीं सामंजस्य ही लक्ष्य रहा।" 'संवादी स्वर द्वारा' उन्होंने जीवनलय में अभिन्नता का प्रयास किया। यह पुस्तक वर्तमान साहित्य का इतिहास है इसमें कला का विवेचन गौण है और जीवन की गतिविधियों का निरीक्षण अधिक है। इसमें विशेष प्रतिनिधि साहित्यकारों को लिया गया है साथ ही नये साहित्यकारों को भी नामांकित किया गया है। द्विवेदी जी के लिए छायावाद और गाँधीवाद तो अन्तसप्रेरणा के रुप में भीतर विद्यमान था ही उन्होंने समाजवाद और प्रगतिवाद को भी आधुनिक जीवन की विकृतियों और दैनिक जीवन की आकुलताओं से निदान पाने के लिए अनिवार्य माना। प्रगति को द्विवेदी जी ने सर्वांगीण जागृति के रुप में स्वीकार किया। स्त्रियों के इस प्रगति में योगदान की चर्चा की। ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक युग के साहित्य का विवेचन किया। द्विवेदी जी का विश्वास है कि भविष्य में जीवन और साहित्य में गाँधीवाद और समाजवाद का संयोग होगा। काव्य की अनवरत धारा विभिन्न युगों में विभिन्न रुपों में प्रकट होती है। छायावाद के बाद प्रगतिवादी युग और नवयुग की ओर अग्रसर होने की बात कही। कविता का मूल्य तात्कालिक न होकर स्थायी ही माना। छायावादी कविता का विकास-क्रम और संबंधित कवियों की साहित्यिक समीक्षा की। कथा साहित्य के विकास पर प्रकाश डाला। प्रसाद की रचनाओं के आधार पर उनकी जीवन दृष्टि वैचारिक धरातल, सांस्कृतिक दृष्टिकोण तथा साहित्यिक विवेचन प्रस्तुत किया है। प्रेमचन्द, शरत्, निराला, पंत और महादेवी इत्यादि कवियों के व्यक्तित्व और कृतित्व का समीक्षात्मक अध्ययन किया है। इसमें संगृहीत निबंध हैं — नख-बिन्दु, साहित्य के विभिन्न युग, युगों का आदान, प्रगति की ओर हिंदी कविता में उलट-फेर, इतिहास के आलोक में, वर्तमान कविता का क्रम-विकास, छायावाद और उसके बाद, कथा-साहित्य का जीवन पृष्ठ, प्रसाद और कामायनी, प्रेमचन्द और गोदान, निराला, पन्त, और महादेवी। इन निबंधों में उनकी दृष्टि सांस्कृतिक है।

(10) सामयिकी — सन् 1944 में ज्ञान मंडल, कबीर चौरा, वाराणसी से प्रकाशित

आलोचना पुस्तक है। इसमें द्विवेदी जी के साहित्यिक आलोचनात्मक तथा सामयिक विषयों पर लिखे गये निबंध संगृहीत हैं पर सभी निबंधों में उनकी गाँधीवादी दृष्टि ही प्रमुख रही है। 'दो शब्द' में द्विवेदी जी ने लिखा, "युग और साहित्य में प्रगतिवादी दृष्टिकोण प्रधान था, गाँधीवाद अन्तःस्पन्दन की भाँति अन्तस में था। प्रस्तुत पुस्तक में वही अन्तःस्पन्दन (गाँधीवाद) मुख्य संवेदन बन गया। सम्पूर्णानन्द जी ने इसके प्राक्कथन में लिखा था कि द्विवेदी जी इस परिणाम पर पहुँचे हैं "विश्वकल्याण की कुंजी पूर्णतया गाँधीवाद के हाथ में है। वे इसे श्रेष्ठ मानते हैं उसमें आस्तिकता है इस तरह इस कृति में युग की विचारधाराओं और साहित्यिक प्रवृतियों का विवेचन, गाँधीवादी दृष्टिकोण से किया है।" इसमें संगृहीत निबंध हैं — युगदर्शन, रवीन्द्रनाथ, कवि कलाकार और सन्त, शरतचन्द्र : शेष प्रश्न : जवाहरलाल : एक मध्यबिन्दु, हिंदी कविता की पृष्ठभूमि, आधुनिक हिंदी कविता के मार्ग दर्शक शुक्ल जी का कृतित्व, प्रगतिवादी दृष्टिकोण, छायावादी दृष्टिकोण, हिंदी साहित्य, भविष्य पर्व, प्रकृति पुरुष का उत्तराधिकार।

(11) पथ-चिन्ह् : सन् 1946 में चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी से प्रकाशित हुआ। यह संस्मरणात्मक पुस्तक है। आज का विसंगत और आक्रान्त स्थितियों में मानव के लिए शांतिपथ का निर्देश है। अशांत और विश्रृंखल आज के समय में भविष्य के लिए जीवन का स्वाभाविक निर्माण कैसे हो, इसकी रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। द्विवेदी जी ने अपनी स्वर्गीय बहिन कल्पवती की परिकल्पना भारत माता के रूप में की है और उसके व्यक्तित्व द्वारा युग और जीवन की समस्याओं पर विचार किया है। इस पुस्तक में छः अध्याय हैं — पथचिन्ह्, स्मृति चिन्तन, वह स्वर्गीया निधि की आहुति, अभिशापों की परिक्रमा, पर्यविक्षण और अन्तःसंस्थान।

(12) जीवन यात्रा — सन् 1951 में ग्रन्थ कार्यालय, पटना से प्रकाशित पुस्तक है। इसके निबंधों में द्विवेदी जी ने मानव जीवन के विविध पक्षों की संरचनात्मक और दार्शनिक व्याख्या की है। जीवन के लिए अनिवार्य तथ्यों के माध्यम से जीवन का सूक्ष्म पर्यवलोकन किया है। इन निबंधों में द्विवेदी जी ने न केवल पुरानी परिपाटी का परित्याग किया बल्कि नयी जीवन दृष्टि और नयी पद्धति का भी समावेश किया। इसमें संकलित निबंध हैं — यात्री, जीवन का लक्ष्य, जीवन का उद्देश्य, मृग-तृष्णा, लौकिक योग्यता, आत्मचिंतन, आत्मविश्वास, हँसता-जीवन।

(13) ज्योति विहग — सन् 1951 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित हुआ। ज्योति अर्थात् चेतना या प्रकाश और विहग अर्थात् कवि या कलाकार। ज्योति विहग के सचेतन कवि यहाँ सुमित्रानंदन पंत है। 'निवेदन' में द्विवेदी जी ने कहा, "छायावाद युग में पन्त जी सौन्दर्यवादी थे, उसके बाद प्रगतिवादी और अब

अध्यात्मवादी, 'हिन्दी कविता का क्रम विकास' निबंध द्वारा द्विवेदी जी ने खड़ी बोली का विकास, द्विवेदी युग, छायावाद युग और इस युग के कवियों का विकास क्रम प्रस्तुत किया। वहाँ दूसरे निबंधों में पन्त जी की समस्त कृतियों का विवेचन एवं विश्लेषण भी किया। पंत को द्विवेदी जी ने छायावाद का श्रेष्ठ शिल्पी सिद्ध किया। इस पुस्तक को द्विवेदी जी ने चार अध्यायों में विभाजित किया है — साकल्य सत्य शिवम् सुन्दरम्, 'सुन्दरम : छायावाद युग :' 'शिवम् : प्रगतिशील युग' तथा 'सत्यम : सांस्कृतिक युग'। प्रथम अध्याय में वीणा, ग्रंथि, उच्छ्वास व आँसू कृतियों का, दूसरे अध्याय में पल्लव, गुंजन, ज्योत्स्ना और युगान्त का, तीसरे में युगवाणी और ग्राम्या का तथा चौथे में स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, उत्तरा, युगपथ और लोकायतन तक की सभी रचनाओं का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

(14) परिव्राजक की प्रजा — सन् 1952 में इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई। द्विवेदी जी की यह आत्मकथा 'आप बीती जग बीती' के अनुसार लिखी कथा है। इसके नामकरण में ध्वन्यार्थ हैं संन्यासी पिता की सन्तान। इसमें क्रमवद्ध संस्मरण है जो 'पर्सनल ऐसे' बन गये हैं। कहानी और निवन्ध दोनों का समन्वय हुआ है। इस पुस्तक को द्विवेदी जी ने दो खण्डों में विभाजित किया। पहले खण्ड 'बाल्यकाल' में मुक्त पुरुष, सगुण शिशु, मातृ विसर्जन, वनदेवी का अंचल, साधना की साध्वी, बाल्यक्रीड़ा, लीला और मेला, अप्रत्याशित निमन्त्रण, अन्तःप्रस्फुटन और वातावरण, जीवन के तट पर, परिपाटी का परित्याग लेखों में अपने परिवेश, माता-पिता, भाई-बहिन, संस्कार, अपने शैशव की बालक्रीड़ा और पढ़ाई छोड़ देने तक की घटनाओं को स्मृति संस्मरणों द्वारा प्रस्तुत किया है। उत्तर काल में — आधार की खोज, कुतूहल और प्रेरणा, नेताओं की झाँकी, अलक्षित भविष्य की ओर, एक सामाजिक उद्यान, आत्मपरिणति, आनंद परिवार, आकांक्षा के पथ पर, रोमांटिक अनुभूति, मानसिक स्थिति, भावना का केन्द्रीयकरण, संस्कृति की आत्मा, अध्ययन और अनुभव, छायावाद की स्थापना, नीरव और हिमानी, योगायोग, वह सुखमय प्रवास, बहिन का बलिदान, व्यक्ति और समाज, रचनात्मक दृष्टिकोण, सौन्दर्य दर्शन, स्मृति पूजन आदि लेखों के अन्तर्गत अपने आर्थिक, सामाजिक एवं साहित्यिक संघर्ष को दर्शाया है। स्वाध्याय प्रारंभ करने से लेकर अंतिम दिनों तक की जीवन कथा को इन लेखों द्वारा प्रस्तुत किया है। इसमें उनका प्रकृति प्रेम, भावुकता, संवेदनशीलता के साथ ही उनके संघर्षपूर्ण जीवन पर पड़ने वाले विविध प्रभावों, उनके सम्पर्क में आनेवाले विभिन्न लोगों का चित्रण है। बाल-विधवा बहिन कल्पवती, जो द्विवेदी जी के जीवन का आधार थी, उनकी प्रेरणा थी उसके व्यक्तित्व की श्रेष्ठता और जीवन की विषमताओं की अभिव्यक्ति है। बहिन की मृत्यु के बाद अपने जीवन की हताशा ओर व्यथित मनःस्थिति का

चित्रण भी है। बाद के दिनों में भ्रमण की प्रवृति, साहित्यिक प्रतिष्ठा और रोग की मर्मान्तक पीड़ा का उल्लेख है।

(15) प्रतिष्ठान — सन् 1953 में इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित रचना है। इसके स्वरुप के संबंध में द्विवेदी जी ने 'आमुख' में लिखा, "इसके लेखों में लेखन की शैली की विविधता है। इसमें पर्सनल 'ऐसे' भी सम्मिलित है। संस्मरण भी है और आजकल के अखबारी रिपोर्ताज का नमूना तथा समीक्षात्मक साहित्यिक निबंध भी है।" संग्रहीत लेख इस प्रकार है — बाल्यस्मृति, पथ सन्धान, प्रकृति, संस्कृति व कला, युग निर्माण की दिशा, छायावाद का प्रकृति दर्शन, मिथिला की अमराइयों में जनकपुर धाम : प्रकृतिधाम, राजनीति और संस्कृति, वर्षा मंगल, विदा के दिन। संस्कृति की साधना, त्रिवेणी के अंचल में, प्राक्कथन, निराला, पन्त, महादेवी। साहित्यावलोकन — यथार्थवाद या आदर्शवाद, छायावाद और देशकाल, रहस्यवाद, प्रयोगवाद, मेरा प्रयास। 'हिन्दी साहित्य', समकालीन साहित्य — युग निरीक्षण, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नाटक, कहानी और उपन्यास। सभी निबंधों का दृष्टिकोण रचनात्मक है इन सभी लेखों में एक निर्माण सूत्र धागे की तरह चला गया है। इसलिए किसी उपन्यास में विविध परिच्छेदों की तरह इसकी अनेक्ताओं में भी अनुबन्धता है। इसमें संगृहीत निबंधों में द्विवेदी जी ने अपने अतीत, स्वभाव, समाज, यथार्थ स्थिति, तथा मनुष्य एवं प्रकृति के शोषण को, मनुष्य के आर्थिक प्राणी बन जाने इत्यादि पर क्षोभ प्रकट किया है। साथ ही, जीवनदायिनी नदियों के प्रति श्रद्धा व्यक्त की है, संस्कृति के आध्यात्मिक तत्त्वों को व्यंजित किया है और साथ ही साहित्यिक निबंधों में साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का भी विवेचन किया है।

(16) दिगम्बर — सन् 1954 में हिंदी प्रचारक पुस्तकालय से प्रकाशित औपन्यासिक कृति है। शास्त्रीय दृष्टि से इस उपन्यास में उपन्यास विधा की विशेषताओं का निर्वाह नहीं है। इसकी पृष्ठभूमि सांस्कृतिक है तथा गद्य की दूसरी विधाओं कहानी, शब्द-चित्र, पर्सनल ऐसे, आदि विधाओं के तत्त्व भी इसमें समन्वित होकर एक नये रचनात्मक प्रयोग का प्रयास है। इसमें कथाक्रम न होकर रेखाचित्र और संस्मरण हैं। इन्हीं के माध्यम से उपन्यास आगे बढ़ता है। नायक, नायक के गुणों से रहित दूषित समाज का मानव है। उसी के माध्यम से लेखक समाज की विविध समस्याओं पर विचार करता है। द्विवेदी जी ने मनुष्य की अन्तश्चेतना और उसकी बाह्य परिस्थितियों के बीच संघर्ष दिखाया है। वह निरन्तर सुख-शांति की खोज में भटकता है परन्तु वह शांति उसे अन्ततः स्वयं की आत्मा और उस आत्मा का निवास प्रकृति में उपलब्ध होती है। इस रचना द्वारा लेखक अपने युग और अपनी भावनाओं का रचनात्मक चिंतन प्रस्तुत करता है। शैली की दृष्टि से भी यह एक नवीन प्रयोग है।

(17) साकल्य — सन् 1955 में हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी से प्रकाशित रचना है। इसमें द्विवेदी द्वारा रचित साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक समस्याओं पर लिखे लेखों का संग्रह है। इसमें संगृहीत निबन्ध हैं — युग का भविष्य, संस्कृति का आधार, समन्वय अथवा एकान्वय, साहित्य का व्यवसाय, हिंदी का आन्दोलन, जन क्रांति का आह्वान, ग्राम्य जीवन के काव्य चित्र, प्रसाद और प्रेमचंद की कृतियाँ, वर्मा जी के उपन्यास, गुप्त बन्धु और छायावाद, पंत का काव्य जगत, वीणा से युगान्त तक, महादेवी की मधुर वेदना, छायावाद के बाद, नयी हिंदी कविता, दिव्या, साहित्य में अश्लीलता, हिंदी का आलोचना साहित्य, दिगम्बर, सौन्दर्य बोध। द्विवेदी जी ने उद्योग और संस्कृति तथा साहित्य और सौन्दर्य के संयोजन को आधार बनाया है। इस संग्रह के निबंधों में द्विवेदी जी ने विनोवा भावे और गाँधी जी के दृष्टिकोण को महत्त्वपूर्ण माना। भौतिकतावाद और अध्यात्मवाद का समन्वय तथा ग्राम्य जीवन की संस्कृति और प्रकृति को अंकित किया है। छायावादी कवियों पंत, महादेवी आदि की कविताओं में छायावादी विशेषताओं को अंकित किया है। छायावादी कविता के विकास के बाद द्विवेदी जी प्रगतिवाद व प्रयोगवाद पर भी विचार करते हैं। साहित्य में अश्लीलता को मनोवैज्ञानिक विकृति माना तथा अन्य कारणों का उल्लेख किया।

(18) धरातल — सन् 1948 में ज्ञान मंडल, बनारस से प्रकाशित रचना है। इसके प्राक्कथन में द्विवेदी जी ने लिखा, "धरातल में धरा के तल और जीवन से तल का सन्निवेश है। दोनों तल भूप्रतिभू हैं, परात्पर हैं।" इस तरह धरातल "उद्योग, संस्कृति व कला का स्वाभाविक समन्वय है।" यह वह धरातल है जिस पर गाँधी जी रामराज्य की स्थापना करना चाहते थे। आज के उथल-पुथल के और अव्यवस्थित युग में जब कि चारों और मनुष्य निजी स्वार्थों से उद्भान्त-सा हो गया है, मानवता की सुरक्षा व स्थिरता के लिए ग्राम्यावस्था ही एकमात्र निदान है। इसमें संकलित निबंध है — जीवन दर्शन, रोटी और सैक्स, मनुष्य और यंत्र, साइकिल रिक्शा और एक्का, किसान और मजदूर, नैतिक हिंसा, तीसरे महायुद्ध के बाद, प्रत्यावर्तनः श्रम धर्म की ओर, टालस्टाय की श्रम साधना, साहित्यिक संस्थाओं का गन्तव्य, जन संस्कारिता, भाषा, साम्प्रदायिकता, तुलसीदास का सामाजिक आदर्श, सूरदास की काव्य साधना, गाँवों की सांस्कृतिक रचना, सन् 42 के बाद की भूल, गाँधी जी का बलिदान, बन्दे मातरम्। इन निबंधों में द्विवेदी जी ने मानव जीवन से जुड़ी अनेक समस्याओं पर विचारपूर्ण ढंग से विवेचन किया है। सम्पन्नता और विपन्नता दोनों में अधोगति है। इसका निराकरण तपस्या और श्रम में है। पूँजीवादी समाज में मानव समुदाय के अपाहिज होते जाने की त्रासदी का चित्रण किया है। इन सबका समाधान गाँधी जी की ग्रामीण व्यवस्था है। भाषा को मानव जाति का इतिहास बताते हुए द्विवेदी जी ने भाषा, समाज

और संस्कृति इन सबका अस्तित्व सांमजस्य में ढूँढा है। द्विवेदी जी ने स्पष्ट किया है कि धर्म का अर्थ सम्प्रदाय न होकर 'सत्य' है। वर्णव्यवस्था समाज का 'कर्म संयोजन' है। सूरदास एवं तुलसीदास की सत्य चेतना को स्पष्ट किया। गाँवों में विकास के स्वाभाविक साधन होने चाहिए। साथ ही राष्ट्र-गीत देशकाल के अनुसार होना चाहिए इत्यादि विषयों पर गंभीरता से विचार किया है।

(19) पद्मनाभिका — सन् 1956 में कल्याण दास एण्ड ब्रदर्स, ज्ञानवाणी, वाराणसी से प्रकाशित रचना है। इसमें आर्थिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक लेख संगृहीत हैं। गोस्वामी तुलसीदास की भगवद्भक्ति, नूतन और पुरातन, संवेदना की शिराएँ, ग्रामगीत, छायावाद और प्रकृति, पंत जी की अतिमा, यशपाल की कला और भावना, नया कथा साहित्य, बोधिसत्व। ये निबंध प्रकृति के मूल-तत्वों से ओत-प्रोत हैं। द्विवेदी जी स्वयं को आधुनिक यथार्थवादियों से भिन्न प्रकृतिधर्मा देहात्मवादी मानते हैं। इन निबंधों में तुलसीदास की राम दृष्टि, नूतन पुरातन, पंत जी का साहित्यिक दृष्टिकोण, यशपाल के उपन्यासों के अध्ययन द्वारा जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण इत्यादि विषयों का विवेचन किया है। सिद्धार्थ के सम्पूर्ण जीवन का भी परिचय दिया है।

(20) आधान — सन् 1957 में हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, ज्ञानवाणी, वाराणसी से इस निबंध संग्रह का प्रकाशन हुआ। इसमें साहित्यिक सांस्कृतिक लेख हैं — काव्य में भक्ति भावना, रवीन्द्रनाथ का रूपक साहित्य, प्रसाद की भावसृष्टि, मौलिकता का प्रतिमान, निराला जी की काव्य दृष्टि, निबंध का स्वरूप, प्रभाववादी समीक्षा, विश्वविद्यालयों में साहित्य का ह्रास, धुरीहीनता : एक नैतिक समस्या, उद्योग और आत्म-योग, सांस्कृतिक चेतना, रचनात्मक योजना, दिग्दर्शन। 'आधान' नामकरण के अनुरुप द्विवेदी जी ने इसके निबंधों में अपने विचार, मत, अवधारणाओं और दृष्टिकोण की स्थापना की है। व्यावहारिक आलोचनात्मक निबंधों में रवीन्द्रनाथ, प्रसाद, निराला इत्यादि की कृतियों के माध्यम से इनकी काव्यात्मक दृष्टि का परिचय दिया है। वैचारिक निबंधों में विश्वविद्यालयों में व्यापारिक भावना के प्रवेश, शिक्षा प्रणाली के दोष, साहित्य के ह्रास इत्यादि विषयों पर चिन्ता प्रकट की गई है। सांस्कृतिक निबन्धों में जनजीवन की सांस्कृतिक चेतना के कुंठित होने पर क्षोभ व्यक्त किया है।

(21) चारिका — सन् 1958 में राष्ट्रीय प्रकाशन मंदिर, अमीनाबाद, लखनऊ से प्रकाशित हुई। यह औपन्यासिक कृति है। इसका स्वरुप आख्यानिका का है। द्विवेदी जी ने इसे 'आचारिका' कहा है। यह पुस्तक तथागत भगवान बुद्ध की न तो जीवनी है और न बौद्ध धर्म का कोई साम्प्रदायिक आलेख है। यह तो ढाई हजार वर्ष बाद बीसवीं शताब्दी के एक क्षीण तनु प्रतनु ब्राह्मण कुमार का अपने दुर्बल पगों से उनकी चारिका का यथाशक्ति अनुगमन है। द्विवेदी जी ने भगवान

बुद्ध की आध्यात्मिक यात्रा को सोलह अध्यायों में अंकित किया है। भगवान बुद्ध ही उपन्यास के केन्द्र बिन्दु मूलपात्र हैं। धर्मचक्र प्रवर्तन से बोधिवृक्ष के नीचे उन्हें सम्बोधि प्राप्त और उसके प्रवर्तन हेतु चारिका और उसके प्रभाव का उल्लेख है। इसमें भगवान बुद्ध के पूर्वजन्म, और वर्तमान जीवन में प्रव्रज्या पत्नी यशोधरा की विरह वेदना, राजा शुद्धोदन, महा प्रजावती की विफलता का और गौतम बुद्ध से मिलाप की कथा है। महा प्रजावती तथा अन्य स्त्रियों को उपद सम्पदा ग्रहण करने की स्वतंत्रता तथा अंगुलिमाल के भगवान बुद्ध के सामने समर्पण की तथा आम्रपाली की कथाएँ भी हैं। इस प्रकार चारिका की कथा इतिहास सम्मत है।

(22) वृन्त और विकास—सन् 1959 में भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गा कुण्ड रोड, वाराणसी से प्रकाशित निबन्ध संग्रह है। यह उनके आर्थिक, साहित्यिक सांस्कृतिक विषयों पर लिखे गये निबंधों का संकलन है। इसमें संकलित निंबध हैं — नेहरू जी विचार और व्यक्तित्व, नेहरू जी की सत्यानुभूति, छायावाद, पन्त की काव्य प्रगति और परिणति, नयी पीढ़ी नया साहित्य, नाटक और रंगमंच, यंत्र युग की कविता, वीरेन्द्र की सत्य-सृष्टि युगाभास। वृन्त और विकास का प्रतीकार्थ साधन और साध्य के लिए है। साधन ग्रामोद्योग है और साहित्य कला एवं संस्कृति भाव का विकास है। इन निबंधों में नेहरू जी के व्यक्तित्व की सौम्यता और उनके अहिंसावादी राष्ट्रीय विचारों का विवेचन है। साथ ही उनके भारतीय संस्कृति, प्रकृति व सौन्दर्य के प्रति प्रेम का उद्घाटन है। छायावादी कविता का उद्भव और विकास, पन्त का साहित्यिक विकास, नयी पीढ़ी पर पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव, छात्रों की समस्याओं, दूषित शिक्षा पद्धति, समाधान के रूप में गाँधी जी की बुनियादी शिक्षा, ग्रामीण व सामुदायिक उद्योग धन्धों इत्यादि विषयों पर विचार हुआ है।

(23) समवेत — सन् 1960 में नंद किशोर एण्ड सन्स, चौक, वाराणसी से प्रकाशित निबंध संग्रह है। इस संकलन में विविध विषयों पर लिखे गये निबन्ध संग्रहीत हैं। सौन्दर्य और कला, छायावाद का सगुण, रागात्मकता की समस्या, हार : पन्त का रचना-सूत्र, शिवपूजन की साहित्य साधना, हिन्दी भूषण, हुतात्मा 'नीवन' प्रगति और संस्कृति, नयी कविता के पाँच रूप, नये उपन्यास और नये उपन्यासकार, झूठ सच : एक युग निरीक्षण, परिव्राजक का जीवन और चिन्तन, विज्ञान और ग्रामोद्योग, भूदान यज्ञ, प्रकृति और सह अस्तित्व, साधन और माध्यम सर्वोदय सम्मेलन के लिए विचारणीय मुद्दे हैं। द्विवेदी जी ने साहित्य, संस्कृति, कला और उद्योग के सामंजस्य द्वारा अपनी क्रियात्मक और रचनात्मक साहित्य वृत्ति को उद्घाटित किया है। इन निबंधों में साहित्य, संगीत और कला की विविधता में एकरूपता का दर्शन है। मध्ययुग के सगुण भाव का आधुनिक छायावाद के सगुण से अन्तर बताया गया है। कवि पन्त, शिवपूजन सहाय, बाल कृष्ण शर्मा नवीन के

साहित्य और जीवन दर्शन का विवेचन है। प्रसाद और प्रेमचंद के बाद जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल की औपन्यासिक विशेषताओं का विश्लेषण है। लघु ग्रामोद्योग द्वारा स्वावलंबन, चरखा और खादी द्वारा सहअस्तित्व की बात कही गयी है।

(24) कवि और काव्य — सन् 1960 में इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित रचना है। इसमें द्विवेदी जी के काव्य से जुड़े कई विषयों पर समीक्षात्मक निबंधों का संग्रह है। इसमें काव्य चिन्तन, नूतन और पुरातन सत्य, मीरा का तन्मय संगीत, प्राचीन हिन्दी कविता, आधुनिक हिंदी कविता, छायावाद, रहस्यवाद और दर्शन, कविता में अस्पष्टता, नवीन काव्य क्षेत्र में महिलाएँ, ठेठ जीवन और जातीय काव्य कला, कवि की करुण दृष्टि, कवि का मनुष्य लोक, वेदना का गौरव, काव्य की लांछिता कैकेयी, काव्य की उपेक्षिता उर्मिला निबंध संगृहीत हैं। इन निबंधों में द्विवेदी जी ने सभ्यता के उद्धार की बात कविता द्वारा संभव मानी, चित्र, संगीत तथा अलंकार का कविता से गहरे जुड़े होना स्वीकार किया। उन्होंने स्वीकार किया है कि कविता और विज्ञान दोनों ही विश्व समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं। मीरा की उपासना पद्धति का विवेचन किया। भक्त कवियों के काव्यांश और भावात्मक दृष्टि की विवेचना की। राष्ट्रीय धारा के कवियों और नवयुग के प्रमुख कवियों का साहित्यिक विवेचन किया। नयी काव्यधारा की श्री वृद्धि करने वाली गद्य एवं पद्यकार सभी महिला साहित्यकारों का उल्लेख तथा प्रमुख का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया। ग्राम्य जीवन और वेदना के महत्त्व की स्थापना की। कैकेयी के प्रति सहानुभूति व्यक्त की और उसकी स्वाभिमानी और सकरुण मूर्ति की प्रतिष्ठा की। उर्मिला की तपस्या की उमा की तपस्या के साथ तुलना की।

(25) परिक्रमा — सन् 1962 में चौखम्भा विद्या भवन, चौक, वाराणसी से प्रकाशित रचना है। इसमें संग्रहीत निबंधों में कालिदास की कला-सृष्टि, समष्टि के स्वर साधक रवीन्द्रनाथ, व्यक्तित्व और कला, कुसुमकार कवि पन्त, अन्तर्निर्माण काव्य कला, संस्मरण, शून्य मंदिर की प्रतिमा। द्विवेदी जी के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विचार व्यक्त हुए हैं। भारत की आत्मा को पहचानने और उसे समष्टि रूप में स्पष्ट करने का प्रयत्न है। इन निबंधों में कालिदास के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की समीक्षा है। रवीन्द्र और गाँधी के विचारों की विवेचना है। कवि पन्त की काव्य साधना और कलानुभूति का विश्लेषण है। महादेवी वर्मा से जुड़े कुछ संस्मरण हैं।

(26) चित्र और चिन्तन — सन् 1964 में चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी से प्रकाशित औपन्यासिक कृति है। दो शब्द में द्विवेदी जी ने लिखा, "उपन्यास न होते हुए भी निबंधों के रूप में पुस्तक का क्रम-विकास उपन्यास जैसा है। इसमें व्यक्ति, उसका परिवेश और उसके युग का रचनात्मक चिन्तन है।" एक विचार प्रधान सामाजिक उपन्यास है जिसमें बौद्धिक दृष्टि से युग का विश्लेषण किया गया है।

इसका कथानक भी दिगम्बर की तरह विशृंखल नहीं है। इसमें एक क्रम है और कथानक को विभिन्न शीर्षकों में बाँटा गया है। भूख और हूक, काफी हाउस की बातचीत, व्यवधान, विडम्बना, अन्तर्मिलन, निर्लिप्त, वातावरण, तीर्थ स्मृति, पश्चाताप, विद्रूप, व्यक्ति और युग, शेप चिन्ह्, खादी, एक सार्वभौम समस्या, खादी: एक नैसर्गिक साधना, लक्ष्मी की प्रतिष्ठापना, विज्ञान और अध्यात्म, युग और जीवन, भविष्य की चिंता। इसका नायक कमल है। जो रागात्मक संस्कारों से युक्त है पर सांस्कृतिक चेतना के अभाव में यह संसार महाश्मशान लगता है। अपने अतीत की स्मृतियों से डूब कर वह माँ की अनुकृति बाल-विधवा बहिन की छवि के दर्शन करता है। जो अपने व्यक्तित्व की शुद्धता एवं पवित्रता से घर को मंदिर की तरह बना देती हैं। उसके प्रति अन्याय के कारण कमल का पश्चात्ताप चित्रित है। गाँधीवादी जीवन दर्शन को आज की समस्याओं के समाधान के रूप में प्रस्तुत किया है। भविष्य के सामने एक प्रश्नचिन्ह् है। इस कृति द्वारा लेखक अपने युग और समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर सका है।

(27) स्मृतियाँ और कृतियाँ — सन् 1966 में चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी से प्रकाशित निबन्ध संग्रह हैं जिसमें संस्मरणात्मक और समीक्षात्मक निबंध संग्रहीत हैं। पहले खण्ड में संस्मरण हैं और दूसरे खण्ड में समीक्षा है। संस्मरण खंड के लेखों — स्मृति के सूत्र, प्रतिक्रिया, प्रभात से संध्या की ओर, शेष सम्पदा, युग संकट, निराला जी की प्रथम स्मृति, निराला जी : मेरी दृष्टि में, निराला जी : जीवन और काव्य, अनमिल आखर, पन्त जी और मैं, नेहरू जी की अंतिम स्मृति लेखों के अन्तर्गत द्विवेदी जी ने अपने जीवन की समस्याओं और परिस्थितियों की दूसरे साहित्यकारों के साथ तुलना की है। द्विवेदी जी ने अपने जीवन का साम्य चार्ल्स लैम्ब से दिखाया। मुक्ति बोध, पन्त, निराला और नेहरू आदि से अपने परिचय का उल्लेख किया।

समीक्षा खण्ड के लेखों में एक साहित्यिक वार्तालाप, समय और हम, नयी सर्जना, अज्ञेय जी की पूर्वा, प्रेम और वात्सल्य के कवि माखनलाल, राष्ट्रकवि गुप्त जी का काव्य योग, गोदान और प्रेमचन्द, प्रसाद का साहित्य, कामायनी के बाद, छायावाद पुनर्मूल्यांकन, लोकायतन, माधवन जी का रचनात्मक चिन्तन, बिना पैसे दुनिया का पैदल सफ़र, सामाजिक कथा साहित्य लेख हैं जिनमें अज्ञेय, माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचंद, प्रसाद इत्यादि साहित्यकारों का साहित्यिक, सांस्कृतिक और रचनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

रचनात्मक योगदान

द्विवेदी जी का विपुल रचना संसार इस बात का परिचायक है कि वे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा जयशंकर प्रसाद जैसे इन बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकारों में से है जिन्होंने आलोचना, निबंध तथा कविता संस्मरण इत्यादि साहित्य के विविध क्षेत्रों में अपना योगदान दिया। द्विवेदी जी के साहित्यकार के इन विविध रूपों का अलग-अलग विवेचन अपेक्षित है।

निबंध

शांतिप्रिय द्विवेदी जी शुक्लोत्तर युग के विशिष्ट निबंधकार है। उनके निबंधों में नए युग की जागृत चेतना और परवर्ती निबंध परम्परा दोनों का समन्वय है। द्विवेदी जी के साहित्य में निबंध संग्रह सबसे प्रमुख है। 'जीवन यात्रा', 'साहित्यिकी', 'युग और साहित्य', 'सामयिकी', 'धरातल', 'साकल्य', 'पद्मनाभिका', 'आधान', 'वृन्त और विकास', 'समवेत', 'परिक्रमा' कृतियों के निबंधों में आलोचनात्मक, विचार-प्रधान, भावात्मक, संस्मरणात्मक तथा सामयिक विषयों पर लिखे गये निबंध है। इन निबंधों में विषयों की विविधता के साथ विचारों की परिपक्वता, गंभीरता, रचनात्मक श्रेष्ठता तथा भाषा की प्रौढ़ता तथा अभिव्यक्ति की मौलिकता है। शांतिप्रिय द्विवेदी जी का आविर्भाव तो शुक्ल युग में हुआ पर कलात्मक उत्कृष्टता और वैचारिक प्रौढ़ता की दृष्टि से द्विवेदी जी के शुक्लोत्तर युग में लिखे गये निबंध विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। ये निबंध उच्चकोटि के गद्य का उदाहरण है। द्विवेदी जी अपने युग के वैचारिक आंदोलनों से प्रभावित हुए जिनका प्रभाव उनके निबंध साहित्य पर पड़ा। द्विवेदी जी के निबंधों की उल्लेखनीय विशेषता विषयों की विविधता है। विचारात्मक निबंधों के विषय दर्शन, संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, परम्परा और आधुनिकता, समाज शास्त्र, राजनीति, साहित्य एवं जीवन मूल्यों से संबंधित है। इनमें द्विवेदी जी का गंभीर चिंतन और समन्वयवादी दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। इसमें द्विवेदी जी ने साहित्यिक सिद्धान्तों, साहित्यकारों, कवियों, सन्तों, कलाकारों के व्यक्तित्व का विश्लेषण तथा आधुनिक जीवन से जुड़े अनेक सवालों पर विचार किया है। 'जीवन यात्रा' संग्रह में 'जीवन क्या है' निबंध जीवन की बहुरूपता को व्यक्त करता है। 'जीवन का उद्देश्य' निबंध में स्थापना है कि विभिन्न व्यक्तियों के जीवन के विभिन्न लक्ष्य होते हुए भी जीवन मात्र का

उद्देश्य एक ही है। "चिन्तन सुख शांति के नियामक आनंद की प्राप्ति निखिल संस्कृति का अंतिम निष्कर्ष है।" 'मृगतृष्णा' निबंध में इस सत्य का उद्घाटन हैं कि मनुष्य अपनी ही महत्त्वाकांक्षाओं से त्रस्त है। इसी संग्रह में 'आत्मचिंतन', 'आत्मविश्वास', 'वशीकरणवाणी' निबंध भी उल्लेखनीय है। 'साहित्यकी' संग्रह के निबंधों में 'मानवता की पुकार', 'शरत् की औपन्यासिक सहृदयता', 'कविता और कहानी' निबंध हैं और 'युग और साहित्य' संग्रह में 'नख-बिन्दु' निबंध में द्विवेदी जी ने उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्य के गुण दोषों का विवेचन किया है। इस शताब्दी में साहित्यिक और सामाजिक जीवन के परिवर्तनों पर विचार है। साथ ही नवजागरण का जीवन के विविध क्षेत्रों में प्रभाव दिखाया है। सामयिकी निबंध संग्रह में 'रवीन्द्रनाथ', 'कवि कलाकार और सन्त', 'हिन्दी कविता की पृष्ठभूमि', 'हिन्दी साहित्य' आदि निबंध दृष्टव्य है। 'धरातल' संग्रह में 'जीवन दर्शन', 'टालस्टाय की श्रम साधना', 'भाषा', 'गाँवों की सांस्कृतिक रचना', निबंध है तथा 'साकल्य' संग्रह में 'संस्कृति का आधार', 'सौन्दर्य बोध' और 'पद्मनाभिका' संग्रह में 'संवेदना की शिराएँ', 'ग्रामगीत', 'छायावाद और प्रकृति' इत्यादि निबंधों को उद्धृत किया जा सकता है। समवेत संग्रह में 'सौन्दर्य और कला', 'छायावाद का सगुण तथा प्रगति और संस्कृति' इत्यादि निबंध महत्त्वपूर्ण हैं। परिक्रमा निबंध संग्रह में 'समष्टि के साधक रवीन्द्रनाथ', 'कुसुमकार कवि पन्त' निबंध उद्धृत किए जा सकते हैं।

द्विवेदी जी ने विवरणात्मक निबंध लिखे जिनमें आख्यानात्मक निबंध प्रमुख हैं। इन निबंधों में निबंधकार अपनी कल्पना में स्वतंत्र होकर विषय का विस्तृत वर्णन करता है। विवरणात्मक निबंधों में जीवनी, कथाएँ, घटनाएँ, पुरातत्व, अन्वेषण तथा आखेट आदि विषयों का निरूपण होता है।

भारतेन्दु और द्विवेदी युग में इस तरह के निबंध अधिक लिखे गये। शुक्ल युग के बाद इस तरह के निबंध लिखने की प्रवृत्ति घटी है। द्विवेदी जी ने भी इस प्रकार के निबंधों की रचना कम ही की है। 'पद्मनाभिका' में 'बोधिसत्व' निबंध विवरणात्मक है। इसमें गौतम बुद्ध के जीवन की लौकिक और अलौकिक कथात्मक व्याख्या प्रस्तुत करके उनके दार्शनिक मतों का प्रतिपादन किया है। द्विवेदी जी की कृति 'चारिका' भी एक तरह का कथात्मक निबंध है और इसका संबंध गौतम के जीवन से है। इसका स्वरूप कथात्मक निबंध का है और इसमें विवरणात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। इसमें गंभीर दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन भी हुआ है। 'सामयिकी' निबंध संग्रह में 'भविष्य पर्व' निबंध में लेखक की गद्य काव्यात्मक प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

द्विवेदी जी ने सामाजिक और समसामयिक विषयों पर बड़ी संख्या में निबंध लिखे। द्विवेदी जी का समय राजनीतिक चेतना की जागृति तथा विभिन्न सामाजिक, धार्मिक और वैचारिक आंदोलनों का युग था। द्विवेदी जी पर इनका प्रभाव पड़ा। द्विवेदी जी ने अपने समय की विविध समस्याओं को आधार बनाकर निबन्ध रचना की। लगभग सभी निबंध

संग्रहों में इस प्रकार के निबंधों का संग्रह है। तथापि 'जीवन यात्रा', 'सामयिकी', 'धरातल', 'साकल्य', पद्मनाभिका, 'आधान', 'वृन्त और विकास' तथा समवेत संग्रहों में इस कोटि के निबंध अधिक उपलब्ध हैं। 'जीवन यात्रा' संग्रह में 'कृषक और शिक्षित युवकों का जीवन', 'नवयुवक और स्वावलम्बन', 'स्वदेश प्रेम', 'युद्ध की विभीषिका' निबंध दृष्टव्य हैं। 'सामयिकी' निबंध संग्रह में 'युग दर्शन' निबंध में द्विवेदी जी ने युग की नारी समस्या के लिए 'अर्द्धनारीश्वर' शिव की व्याख्या की है। जो लोक कल्याण की भावना से समन्वित है। साथ ही गाँधी जी के नारी विषयक विचारों द्वारा नारी उत्थान का संकेत दिया। 'धरातल' निबंध संग्रह में 'रोटी और सेक्स' निबंध उल्लेखनीय है। इसमें द्विवेदी जी ने मनुष्य की जैविक अनिवार्यताओं के अभाव की बात कही। इसका कारण मानव में बढ़ता स्वार्थ, परिश्रम, सहयोग एवं सद्भावना का अभाव है। इसी संग्रह में 'मनुष्य और यन्त्र' निबंध में श्रम के अर्थ और महत्त्व को स्पष्ट करते हुए यांत्रिक युग में मनुष्य की निष्क्रियता को दर्शाया है। 'किसान और मजदूर' निबंध में गाँव से अर्थ के अभाव में किसान से कटकर शहर में मजदूर बन जाने की प्रक्रिया को व्यक्त किया है। इसी संग्रह में 'प्रत्यावर्तन : श्रम धर्म की ओर' निबंध भी उल्लेखनीय है। 'साकल्य' निबंध संग्रह में 'युग का भविष्य' निबंध में द्विवेदी जी ने गाँधी दर्शन में अविश्वास, राजनीति की प्रवंचना, मानव के स्वार्थ की चिन्ता प्रकट करते हुए कहा है कि केवल अर्थ से स्वतंत्रता पाना संभव नहीं। 'साहित्य का व्यवसाय', 'हिन्दी का आन्दोलन', 'साहित्य में अश्लीलता' इत्यादि निबन्ध भी दृष्टव्य हैं। 'पद्मनाभिका' निबंध संग्रह में नूतन पुरातन निबंध में लिखा है कि अतीत ही अदृश्य होकर भविष्य में प्रतिबिम्बित होता है। विज्ञान ने प्रकृति पर प्रभुत्व पाया है पर प्रकृति अपनी स्पन्दनशीलता में अजेय है। 'आधान' निबंध संग्रह में 'विश्वविद्यालयों में साहित्य का ह्रास', 'धुरीहीनता : एक नैतिक समस्या', 'उद्योग और आत्मयोग', 'लोक कला का आधुनिकीकरण' इत्यादि निबंध युग की ज्वलन्त समस्याओं से जुड़े हैं। विश्वविद्यालयों में साहित्य का ह्रास निबंध विश्वविद्यालयों की दूषित शिक्षा प्रणाली और पनपती व्यापारिक मनोवृत्ति कारण है। ये स्थान व्यापारिक एवं राजनीति के अखाड़े बन गये हैं। जहाँ छात्रों और अध्यापकों में सदैव संघर्ष चलते रहते हैं। 'धुरीहीनता : एक नैतिक समस्या' निबंध में धुरीहीन समाज में नैतिक हीनता का उल्लेख किया है। 'लोक कला का आधुनिकीकरण' निबंध में नेहरु जी के विचारों से साम्य रखते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है कि लोक कला जन सामान्य से जुड़ी, स्वतःप्रेरित कलाएँ हैं उनके आधुनिकीकरण से उनकी स्वाभाविकता और सरसता नष्ट हो जाएगी। 'वृन्त और विकास' निबंध संग्रह में 'नेहरु जी : विचार और व्यक्तित्व' तथा 'नेहरु जी की काव्यानुभूति' निबंधों में उनके व्यक्तित्व और 'मेरी कहानी' के आधार पर उनकी काव्यात्मकता की प्रशंसा की है और उनके विचारों की गाँधी जी के विचारों में भिन्नता दर्शाई है। 'युगाभास' निबंध में बेकारी एवं अनुशासनहीनता की समस्याओं का निराकरण गाँधीवादी रचनात्मक कार्यों द्वारा संभव

माना है। 'समवेत' निबंध संग्रह में 'विज्ञान और ग्रामोद्योग', 'प्रकृति और सह-अस्तित्व', 'साधन और माध्यम' निबंधों के अन्तर्गत विज्ञान की प्रगति और उनके प्रभाव, गाँधी जी के ग्रामोद्योग, सर्वोदय, सहअस्तित्व, तथा प्रकृति के प्रति अपने अनुराग को व्यक्त किया है। उनके अनुसार समकालीन समस्याओं का समाधान गाँधीवादी जीवन दर्शन से ही पाया जा सकता है।

श्री शांतिप्रिय द्विवेदी जी के सभी निबंध संग्रहों में आलोचनात्मक निबंध संकलित हैं। इन निबंधों में साहित्यिक विषयों पर, काव्य-शास्त्र से सबंधित विषय, विभिन्न लेखकों, कवियों की भाव तथा दृष्टि के आधार पर आलोचना, व्यावहारिक, सैद्धांतिक तथा पुस्तक परिचयात्मक आलोचना से जुड़े हुए निबंध हैं। द्विवेदी जी के निबंध संग्रह 'साहित्यिकी', 'युग और साहित्य', 'सामायिकी', 'धरातल', 'साकल्य', 'पद्मनाभिका', 'आधान', 'वृन्त और विकास', 'समवेत' तथा 'परिक्रमा' में आलोचनात्मक निबंधों की भरमार है। साहित्यिकी निबंध संग्रह में 'ब्रजभाषा का माधुर्य विलास' निबंध में ब्रजभाषा के कवियों की कविता में शृंगार के माधुर्य की, तथा ब्रजभाषा के कवियों की कविता द्वारा यह स्थापित किया हैं भक्ति काव्य से भिन्न इस कविता में प्रणय की वहिर्चेतना ही प्रमुख रही है। 'औपन्यासिकता पर एक दृष्टि' निबंध में टालस्टाय के उपन्यास 'पुनर्जीवन' के आधार पर टालस्टाय की उपन्यास कला पर प्रकाश डाला है। टालस्टाय और तुर्गनेव की तुलनात्मक समीक्षा भी की गई है। 'काशी के साहित्यिक हास्य रसिक' निबंध में काशी के साहित्यिक हास्य रसिकों में तुलसीदास, कबीरदास से लेकर आधुनिक काल के भारतेन्दुजी, पं. प्रतापनारायण मिश्र, पं. बद्रीनारायण चौधरी, पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, जगन्नाथ प्रसाद 'रत्नाकर', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्री प्रेमचन्द, प्रसाद जी. उग्रजी, कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब' इत्यादि के साहित्य में हास्य-रस को स्पष्ट किया है। इसी संग्रह में, 'भारतेन्दु के जीवन पर एक दृष्टि' निबंध में भारतेन्दु के व्यक्तित्व एवं कृतित्व द्वारा उनकी साहित्यिक प्रतिभा पर प्रकाश डाला। 'समालोचना की प्रगति', 'हमारे साहित्य का भविष्य', 'गोदान और प्रेमचंद', 'सांस्कृतिक कवि मैथिलीशरण गुप्त', 'साकेत में उर्मिला', 'गद्यकार निराला', 'प्रगतिशील कवि पन्त', 'नीहार में करुण अध्यात्म की कवि महादेवी', 'जैनेन्द्र के विचार', इत्यादि निबंध महत्वपूर्ण हैं।

'युग और साहित्य' निबंध संग्रह में 'साहित्य के विभिन्न युग', निबंध में लेखक ने भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, छायावाद युग, प्रगति युग, प्रयोगवादी युग का विवेचन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में किया है। 'प्रगति की ओर', 'हिन्दी कविता में उलट फेर', 'इतिहास के आलोक में' निबंध महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें भारतीय हिन्दी साहित्य की सभी क्षेत्रों में प्रगति, मध्यकाल की कविता का आधुनिक युग में परिवर्तित रूप तथा सन् '40 के पूर्व तक की साहित्यिक, राजनीतिक और सामाजिक गतिविधियों का विवेचन किया गया है। 'वर्तमान कविता का क्रम विकास', 'छायावाद और उसके बाद', 'कथा साहित्य का

जीवन पृष्ठ' तथा 'प्रसाद और कामायनी', 'प्रेमचंद और गोदान', 'निराला', 'पन्त और महादेवी' आदि निबंध महत्त्वपूर्ण हैं।

'सामयिकी' में संकलित निबंध 'शरतचन्द : शेष प्रश्न' निबंध में शेष प्रश्न को 'जीवन का अंकगणित' कहा और औपन्यासिक कला की दृष्टि से उसकी आलोचना की। आधुनिक हिन्दी कविता के मार्ग चिन्ह् निबंध में पाँच कवियों की प्रतिनिधि रचनाओं 'भारत भारती', 'कामायनी', 'प्रिय प्रवास', 'पल्लव' तथा 'मिट्टी के फूल' का विश्लेषण किया है। 'शुक्लजी का कृतित्व' निबंध में शुक्ल जी के साहित्यिक व्यक्तित्व, उनके विचार और उनके निबन्धकार, समीक्षक, अनुवादक, कोशकार तथा कवि के रूप को स्पष्ट किया है।

'धरातल' निबंध संग्रह में 'सूरदास की काव्य साधना' निबंध में सूरदास के काव्य के भाव एवं कलापक्ष का विवेचन किया है। 'साकल्य' निबंध संग्रह में 'प्रसाद और प्रेमचंद की कृतियाँ', निबंध में दोनों लेखकों का तुलनात्मक मूल्यांकन किया है। 'वर्मा जी के उपन्यास', 'गुप्त बन्धु और छायावाद', 'पन्त का काव्य जगत्', 'नयी कविता के पाँच रूप', 'हिन्दी का आलोचना साहित्य' निबंध महत्त्वपूर्ण हैं। पद्मानाभिका निबन्ध संग्रह में 'गोस्वामी तुलसीदास की भगवद्भक्ति' में तुलसीदास का जीवन और जीवनदृष्टि को उनकी परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में परखा है। 'पन्त जी की अतिमा' निबंध में श्री अरविन्द दर्शन का प्रभाव स्पष्ट किया गया है। 'यशपाल की कला और भावना', 'नया कथा साहित्य' निबंध भी उल्लेखनीय हैं। 'वृन्त और विकास' निबंध संग्रह में 'छायावाद' निबन्ध में छायावाद की पृष्ठभूमि, प्रादुर्भाव तथा छायावाद की अन्यतम विशेषता तथा प्रकृति के सचेतन व्यक्तित्व का विवेचन किया है। 'पन्त की काव्य प्रगति और परिणति', 'वीरेन्द्र की काव्य सृष्टि' निबंध भी उल्लेखनीय है। 'समवेत' निबंध संग्रह में नवीन जी की कविताएँ, 'परिक्रमा' निबंध संग्रह में 'कालिदास की कलासृष्टि', 'समष्टि के स्वर साधक रवीन्द्रनाथ', 'कुसुमकुमार कवि पन्त' निबन्ध महत्त्वपूर्ण हैं। 'आधान' निबंध संग्रह में व्यवहारिक आलोचना की दृष्टि से 'रवीन्द्रनाथ का रूपक रहस्य', 'प्रसाद की भाव सृष्टि', 'निराला जी की काव्य दृष्टि', निबंध दर्शनीय हैं। इसी तरह इसी संग्रह में 'निबन्ध का स्वरूप', 'प्रभाववादी समीक्षा' तथा 'वृन्त और विकास' निबंध संग्रह में 'नाटक और रंगमंच', निबंध सैद्धान्तिक आलोचना की दृष्टि से उल्लेखनीय है। पुस्तक परिचयात्मक आलोचना की दृष्टि से 'समवेत' निबंध संग्रह में संकलित निबंध 'हार : पन्त का रचना सूत्र', 'झूठा सच : एक युग निरीक्षण' उद्धृत किए जा सकते हैं। परिचयात्मक आलोचना की दृष्टि से 'सनवेत' निबंध संग्रह में, 'नये उपन्यास : नये उपन्यासकार' निबंध महत्त्वपूर्ण हैं जिसमें द्विवेदी जी ने प्रसाद के 'कंकाल', प्रेमचंद के 'गोदान', वृन्दावनलाल वर्मा के 'प्रत्यागत', 'लगन', सियारामशरण गुप्त के 'गोद', 'अंतिम आकाँक्षा', 'नारी', रेणुजी का 'मैला आँचल', 'परती : परिकथा', यशपाल का 'झूठा सच', 'सिंहावलोकन', राजेन्द्र यादव का 'उखड़े हुए लोग' इत्यादि उपन्यासों की परिचयात्मक आलोचना प्रस्तुत की है।

द्विवेदी जी ने अपनी भावुक और संवेदनशील मनोवृत्ति के अनुकूल भावात्मक निबंधों की भी सृष्टि की। इन निबंधों में इनकी आत्मानुभूति की ही अभिव्यंजना हुई है। 'साहित्यिकी' निबंध संग्रह में 'प्रवास', 'एक अतीत स्वप्न', 'कवीन्द्र : एक बाल्य झलक' इसी श्रेणी में आते हैं। 'सामायिकी' निबंध संग्रह में 'भविष्यपर्व' निबंध में गाँधी जी के जीवन दर्शन की भावात्मक अभिव्यक्ति है। 'साकल्य' निबंध संग्रह में 'दिगम्बर' निबंध में अपनी उपन्यास रचना दिगम्बर का भावात्मक परिचय दिया है। 'परिक्रमा' निबंध संग्रह में 'वह अदृश्य चेतना' निबंध में बहिन कल्पवती के सुरुचिपूर्ण, शांत, व्यक्तित्व और जीवन संघर्षों को भावात्मक स्तर पर चित्रित किया गया है।

द्विवेदी जी ने संस्मरणात्मक निबंधों की भी रचना की। 'साहित्यिकी' संग्रह में 'महापथ के पथिक प्रसाद' निबंध में प्रसाद जी के साथ अपने साहचर्य, अपने वैयक्तिक जीवन का परिचय तथा अपनी किशोरावस्था में अपने कुतूहल, अपने स्वप्नों, सौन्दर्य तथा कला के अपने अनुराग तथा अपनी निःसहाय स्थिति के साथ प्रसाद जी के भी भावुक किशोर हृदय को चित्रित किया है। 'समवेत' संग्रह में 'हुतात्मा नवीन' निबंध में नवीन जी के जन्म, जीवन परिचय और मृत्यु से मर्माहत अपने शोकाकुल भावनाओं का और मानसिक कष्टों का वर्णन किया है। साथ ही, उनके प्रभावशाली साहित्यिक व्यक्तित्व को उनके स्नेहियों के माध्यम से चित्रित किया। 'परिक्रमा' संग्रह में 'कुसुमकुमार कवि पन्त', 'शून्य मंदिर की प्रतिभा', निबंध भी संस्मरणात्मक निबंध हैं।

द्विवेदी जी के इन निबंधों में भाषा और शैली का प्रयोग विषयानुरूप है। जहाँ गंभीर विषयों का विवेचन है वहाँ भाषा क्लिष्ट है और कहीं-कहीं दुरुह भी। भावना प्रधान स्थलों पर भाषा संस्कृत निष्ठ है। साधारणतया उन्होंने संस्कृत, उर्दू, हिन्दी, अंग्रेजी के प्रचलित तथा अंगीकृत शब्द प्रयोग द्वारा सजीव एवं प्रभावपूर्ण भाषा को अपनाया है। शैली की दृष्टि से भी विषय के अनुरूप द्विवेदी जी ने विविध शैलियों का प्रयोग किया है। द्विवेदी जी के भावात्मक और आत्मकथात्मक निबंधों में रागात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। जैसे 'परिक्रमा' संग्रह में 'वह अदृश्य चेतना' निबंध में रूपात्मक शैली का प्रयोग वस्तु-स्थिति के चित्रण के लिए प्रयोग में लाए हैं। 'जीवन यात्रा' संग्रह में 'मृग तृष्णा' निबंध दृष्टव्य है। संश्लिष्ट शैली का प्रयोग द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की गंभीरता, शब्द चयन की सतर्कता, तत्व निरूपण की समर्थता के अनुरूप ही हुआ है। 'सामयिकी' में संगृहीत 'रवीन्द्रनाथ' निबंध दृष्टव्य है। आलंकारिक शैली का प्रयोग भी द्विवेदी जी के निबंधों में दर्शनीय है। 'परिक्रमा' संग्रह में 'वह अदृश्य चेतना' निबंध इस शैली प्रयोग के लिए महत्त्वपूर्ण है। भावात्मक शैली का प्रयोग द्विवेदी जी के कवि व्यक्तित्व के अनुरूप है। 'पद्मनाभिका' संग्रह में 'नूतन पुरातन' निबंध दृष्टव्य है। विचारात्मक शैली का प्रयोग द्विवेदी जी के विचार प्रधान और चिन्तन प्रधान निबंधों में दृष्टव्य है। 'जीवन यात्रा' संग्रह में 'जीवन का उद्देश्य' निबंध उल्लेखनीय है। आलोचनात्मक शैली का प्रयोग आलोचनात्मक निबंधों में दृष्टिगत होता है।

व्याख्यात्मक शैली का प्रयोग द्विवेदी जी ने तथ्य निरुपण के लिए किया है। 'आधान' संग्रह में 'काव्य में भक्तिभावना' निबंध दृष्टव्य है। निर्णयात्मक शैली द्विवेदी जी के चिन्तन प्रधान निबंधों में उपयुक्त हुई है। उदाहरण के लिए 'धरातल' संग्रह में 'मनुष्य और यन्त्र' निबंध। उद्‌बोधनात्मक शैली पाठकों को प्रेरणा देने के लिए प्रयुक्त हुई। उदाहरण के लिए 'जीवन यात्रा' संग्रह में 'प्रोत्साहन' निबंध। वर्णनात्मक शैली का प्रयोग आख्यानात्मक निबंधों में हुआ है। व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग भी द्विवेदी जी ने सामयिक समस्याओं से जुड़े निबन्धों में किया है। 'साकल्य' संग्रह में 'साहित्य का व्यवसाय' निबंध दृष्टव्य है। इस प्रकार निबंधकार के रूप में द्विवेदी जी का योगदान उल्लेखनीय है। द्विवेदी जी के समकालीन विषयों पर लिखे गये निबंध उनकी प्रगतिशील विचारधारा और जागृत चेतना के परिचायक हैं। इनमें द्विवेदी जी ने गौरवमय अतीत और आधुनिकता के समन्वय पर बल दिया। द्विवेदी जी समकालीन विचार आन्दोलनों से प्रेरित हुए उनका प्रभाव भी इनके निबंधों में दृष्टिगत होता है। ये निबंध उनकी वैचारिक गंभीरता, जीवन दर्शन और चिन्तन क्षेत्र की व्यापकता तथा विषयों की विविधता को प्रस्तुत करते हैं। सैद्धान्तिक निबंधों में अभिव्यक्ति की मौलिकता सराहनीय है। इस तरह द्विवेदी जी का विपुल निबंध-साहित्य हिन्दी निबंध के विकास और उसकी समृद्धि में अभूतपूर्व योगदान है।

आलोचना

शांतिप्रिय द्विवेदी जी एक गंभीर आलोचक थे। उन्होंने कई आलोचना पुस्तकों का सृजन किया। 'हमारे साहित्य निर्माता', 'ज्योति विहग', 'संचारिणी', 'कवि और काव्य', 'स्मृतियाँ और कृतियाँ'। इन आलोचना पुस्तकों में द्विवेदी जी की सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक समीक्षा का स्वरूप स्पष्ट होता है। इसके अतिरिक्त आत्म-व्यंजना प्रधान, आत्मपरक अथवा वैयक्तिकता प्रधान आलोचना के क्षेत्र में भी द्विवेदी जी का विशेष योगदान है। द्विवेदी जी ने विविध आलोचना पद्धतियों का प्रयोग किया। ऐतिहासिक आलोचना में साहित्यिक विधाओं के विकास की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। शास्त्रीय समीक्षा में द्विवेदी जी ने समीक्षा के परम्परागत उपकरणों को मान्यता दी। तुलनात्मक समीक्षा में विभिन्न साहित्यकारों, प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, शरतचन्द्र, रवीन्द्रनाथ, गाँधी जी इत्यादि का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। छायावादी समीक्षा का भावनापरक रूप द्विवेदी के आलोचना साहित्य में मिलता है। प्रगतिवादी आलोचना में द्विवेदी जी ने समकालीन साहित्य की समीक्षा की। द्विवेदी जी की इन आलोचना विधियों को विस्तार से परखा जा सकता है।

आलोचना पद्धति का प्रयोग किसी विषय को उसकी परम्परा और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में समझने के लिए किया गया। द्विवेदी जी ने विशेष रूप से इस आलोचना पद्धति का प्रयोग किया। 'ज्योति विहग' आलोचना पुस्तक में 'हिन्दी कविता का क्रम-विकास'

शीर्षक लेख में हिन्दी कविता के विकास को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया है। खड़ी बोली पूर्व व्रजभाषा काव्य की संक्षिप्त रूपरेखा के बाद खड़ी बोली के आविर्भाव और विकास में व्रजभाषा की श्रृंगारपरक रचनाओं को माना। समकालीन साहित्यिक आंदोलनों को भी वर्तमान कविता के विकास में निर्णायक माना। 'संचारिणी' रचना में 'भक्तिकाल की अन्तश्चेतना' तथा 'छायावाद का उत्कर्ष' समीक्षात्मक लेखों में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में इन विषयों पर विचार किया है। छायावाद के संबंध में उन्होंने लिखा कि कबीर, सूर, मीरा, तुलसी, रसखान इत्यादि कवियों की अन्तश्चेतना ही विभिन्न रूप में छायावादी कविता में प्रकट हुई। 'हिन्दी गीति काव्य' लेख में भी गीतिकाव्य के क्रमिक इतिहास को प्रस्तुत किया गया। 'कवि और काव्य' पुस्तक में 'प्राचीन हिन्दी कविता' और 'आधुनिक हिन्दी कविता' आलोचनात्मक लेखों में प्राचीन अर्थात् भक्तिकाल तथा रीतिकाल की कविता तथा आधुनिक कविता का छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद के रूप में ऐतिहासिक विकास-क्रम प्रस्तुत किया गया है।

द्विवेदी जी ने शास्त्रीय समीक्षा पद्धति का प्रयोग साहित्य के शास्त्रीय और परम्परागत सिद्धान्तों के आधार पर किया है। 'कवि और काव्य' पुस्तक में 'काव्यचिंतन' लेख दृष्टव्य है। इसमें द्विवेदी जी ने स्थापना की कि कविता द्वारा ही अनुभूतियों का तादात्म्य स्थापित होता है। श्रृंगार इस काव्य का प्रमुख रस है। अन्य कोमल रसों में शांत, करुण और वात्सल्य मुख्य हैं। पुरुष भावों से जुड़े रौद्र, भयानक तथा वीभत्स रस है। रस की सिद्धि के लिए छन्द को आवश्यक माना गया। काव्य शब्द, छन्द, भाव और रस सभी का समग्र योग है। अलंकार को चमत्कार के लिए न मानकर भाव गांभीर्य के लिए माना। 'संचारिणी' संग्रह में 'लिपिक कविता' निबंध गीति-काव्य की शास्त्रीय समीक्षा प्रस्तुत करता है। इसमें द्विवेदी जी ने संगीत की तुलना में सत्य की श्रेष्ठता प्रतिपादित की। गीतिकाव्य को 'आत्मसाधना' की कविता कहा। काव्य और संगीत के संयोग में गीतिकाव्य की सृष्टि होती है। अतः दोनों कलाएँ पूर्णता प्राप्त करती हैं। 'हमारे साहित्य निर्माता' के निबंधों में कुछ स्थलों पर इस पद्धति का प्रयोग हुआ है।

द्विवेदी जी ने तुलनात्मक आलोचना पद्धति की परम्परा को आगे बढ़ाया। 'ज्योति विहग' और 'संचारिणी' आलोचना पुस्तकों में तुलनात्मक आलोचना का प्रयोग कई निबंधों में हुआ है। छायावाद के प्रमुख कवियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। इसमें उन्होंने प्रसाद और निराला, पन्त और निराला तथा पन्त और रवीन्द्रनाथ की तुलनात्मक समीक्षा की। 'संचारिणी' पुस्तक में ही छायावाद के प्रतिनिधि कवियों पन्त, प्रसाद, महादेवी और निराला तथा दूसरे छायावादी कवियों मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, माखनलाल चतुर्वेदी के साथ तुलनात्मक विवेचन किया। पन्त, प्रसाद और महादेवी की तुलनात्मक समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा, "महादेवी की कविता त्याग उत्सर्ग और

निर्वाण को लेकर चली — पन्त प्रवृत्ति प्रधान है महादेवी निवृत्ति प्रधान। प्रसाद का काव्य ऐहिक है जबकि महादेवी का काव्य दार्शनिक अनुभूतियों से अधिक अनुप्रमाणित है। द्विवेदी जी ने देवकीनंदन खत्री, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, द्विजेन्द्रलाल राय, महादेवी वर्मा, सुभद्राकुमारी चौहान इत्यादि की तुलनात्मक समीक्षा की। सुभद्राकुमारी चौहान और महादेवी की कविताओं की तुलना करते हुए उन्होंने लिखा कि महादेवी की कविताओं में प्रकृति की मनोहरता प्रमुख है। परन्तु सुभद्राकुमारी चौहान प्रकृति के प्रति आकृष्ट नहीं हुई। माहदेवी वर्मा जी की कविताएँ अन्तर्जगत की भाँति सूक्ष्म हैं तो सुश्री चौहान की कविताएँ बाह्य विश्व की भाँति प्रत्यक्ष। एक में यदि आत्मा है तो दूसरे में काया। एक के लिए यदि यह एक आत्मा है तो दूसरे में कलेवर। एक के लिए यदि यह शरीर एक सीमापूर्ण बन्धन है तो दूसरे के लिए यह संसार भावना का मुक्त प्राँगण"।

द्विवेदी जी का युग छायावाद का युग था और छायावादी समीक्षा पद्धति का उन्होंने अन्य छायावादी कवियों की भाँति अपनी समीक्षाओं में प्रयोग किया। यह समीक्षा शैली द्विवेदी जी के भावना प्रधान व्यक्तित्व के अनुकूल भी थी। द्विवेदी जी ने छायावादी रहस्यवादी कविता की भी समीक्षा की। छायावादी कवियों की आलोचना की। उनकी छायावादी आलोचना दृष्टि का आधार उनका कवि हृदय और छायावादी जीवन दर्शन है।

छायावाद के बाद प्रगतिवादी कविता का विकास हुआ। इसका सैद्धान्तिक आधार मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वर्ग संघर्ष और साहित्य में यथार्थ की प्रवृत्ति है। साहित्य में प्रगतिवाद छायावाद की वैयक्तिकता और वायवीयता के विरोध में आया। द्विवेदी जी ने 'ज्योति विहग' में पन्त की कविता पर प्रगतिवादी दृष्टि से समीक्षा की। पन्त की 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' रचनाओं को निहित यथार्थवाद के कारण समाज के उत्थान और नव निर्माण के कारण युगसम्मत माना। तथापि द्विवेदी जी गाँधीवाद जीवन दर्शन से प्रभावित और प्रेरित होने के कारण प्रगतिवादियों की संकुचित और प्रचार प्रवृत्ति से दूर रहे। इस तरह उनकी प्रगतिवादी आलोचना भी युग के अनुरूप और नयी चेतना से जुड़ी हुई थी।

आलोचक के रूप में द्विवेदी जी प्राचीन संस्कृत साहित्य और शास्त्र में वर्णित काव्य के मूल तथ्यों से प्रेरित रहे। साहित्य के अंतरंग और बहिरंग का समुचित विवेचन-विश्लेषण करते हुए साहित्य में रस, छन्द, अलंकार, कल्पना, भाव और भाषा के परम्परागत उपकरणों का निरुपण भी किया। इस सन्दर्भ में अनुभूति, संवेदनशीलता, बौद्धिकता, दार्शनिकता तथा सांस्कृतिक चेतना के निदेशक तत्वों का प्रतिपादन भी किया। द्विवेदी जी की आलोचना दृष्टि उनकी रस ग्राहिका शक्ति से चालित थी। काव्य के मूल तत्व रस को साहित्य के लिए विशेष प्रयोजनीय माना। काव्य का मूल रस शृंगार तथा अन्य कोमल और परुष रसों को जीवन से संबंधित कहा। निराला के काव्य में करुण रस की मर्मस्पर्शी व्यंजना का सम्यक विवेचन इसी वृत्ति से कर सके हैं। द्विवेदी जी ने शब्द और छन्द

योजना को भी महत्त्व दिया। भावों की गति में छन्द सहायक होते हैं। मात्रिक और वार्णिक छन्दों के संबंध में उन्होंने लिखा कि वर्णवृन्तों में बन्धन और अनुशासन रहता है जबकि मात्रिक छन्दों में हृदय उन्मुक्त होता है और भावनाएँ स्वतंत्र। मुक्त छन्द में भावनाओं का उद्रेक रहता है आंतरिक लय और नाटकीय तत्त्व का समावेश होता है। मुक्त छन्द को छायावाद का अन्तरंग छन्द माना।

द्विवेदी जी ने काव्य में अलंकार के महत्त्व को भी स्वीकारा। भावों का स्पष्टीकरण, गांभीर्य तथा उत्कर्ष दिखाने, वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में सहायक युक्ति को अलंकार कहा। द्विवेदी जी ने त्रिगुण, त्रिमूर्ति और त्रिवाणी को काव्य की सम्यक रचना के लिए अनिवार्य माना। त्रिगुण भावना, चिन्तन और प्रभूति तथा त्रिवाणी सत्य, शिवम् और सुन्दरम् को काव्य के उत्कर्ष के लिए आवश्यक माना। भावों की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त भाषा अपेक्षित होती है। काव्य में सार्थक कल्पना का महत्त्व है। काव्य में कल्पना एवं अनुभूति के संतुलन पर विचार किया। द्विवेदी जी ने वेदनानुभूति को सहृदयता के लिए तथा मानव जीवन की मूल रागिनी माना। द्विवेदी जी ने आदर्शवाद को मनुष्यता का गुण माना। मानव के प्रेम, सहानुभूति करुणा, ममता आदि मानवीय गुण आत्मा के गुण हैं और आदर्शवाद भी है। यथार्थ के बिना आदर्श गतिरहित है और आदर्श के बिना यथार्थ जीवन रहित। इसलिए यथार्थ कला का आधार तो है पर कला का अस्तित्व आदर्श और मंगलाचरण है। छायावाद और रहस्यवाद को द्विवेदी ने श्रेष्ठतर अभिव्यक्ति माना क्योंकि दार्शनिक अनुभूतियों से संबंधित होने के कारण वह सप्राण और सत्य है। प्रगतिवाद अर्थोन्मुख विचारधारा है जो आर्थिक साम्य के आधार पर मानव मुक्ति चाहती है पर इसकी समस्या संकुचित यथार्थ और प्रचारात्मक होना है। द्विवेदी जी ने प्रतिपादित किया कि कला स्वयं लक्ष्य न होकर लक्षण है, साध्य न होकर साधन है। वह अभिप्रेत नहीं अभिव्यक्ति है। कला साहित्य की जीवनमयी आत्मा की मनोरम अभिव्यक्ति है। गीतिकाव्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा कि संगीत के संयोजन में गीतिकाव्य की सृष्टि होती है। प्रगीत-काव्य गीतिकाव्य का ही एक रूप है। मुक्तक काव्य एवं संक्षिप्त भाव को प्रस्तुत करने हेतु है।

इस प्रकार द्विवेदी जी एक ओर जहाँ आलोचना के शास्त्रीय तत्वों का निरूपण किया वहाँ उसमें समय की प्रमुख आलोचना पद्धतियों का प्रयोग व उनमें समन्वय भी स्थापित किया। द्विवेदी जी आलोचक के रूप में दूसरों से भिन्न इसलिए भी हैं कि उनका आलोचनात्मक दृष्टिकोण आत्मपरक था। इसलिए विद्वानों ने इनकी आलोचना को प्रभाववादी कहकर नकारने की भी कोशिश की। तथापि, भावुक, सहृदय, रसाल परंतु प्रबुद्ध आलोचक होने के कारण उनकी आलोचना आत्मपरक तो थी पर सीमित या संकुचित नहीं।

इस प्रकार द्विवेदी जी ने आलोचक के रूप में समकालीन रुढ़ एवं शास्त्रीय आलोचना की सीमाओं को तोड़ा और आधुनिक आलोचना का विकास किया। उनकी आत्मपरक आलोचना में शास्त्रीय और आधुनिक दृष्टियों का समन्वय है। आलोचक के रूप में भी द्विवेदी जी की उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण हैं।

उपन्यास

हिन्दी उपन्यास के इतिहास, उपन्यास की पृष्ठभूमि, प्रवृत्तियों और शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाए तो द्विवेदी जी की औपन्यासिक रचनाएँ 'दिगम्बर', 'चारिका', 'चित्र और चिन्तन' प्रचलित अर्थ में उपन्यास विधा के अंतर्गत नहीं रखी जा सकती। द्विवेदी जी ने स्वयं अपने उपन्यासों को रेखांकन कहा। द्विवेदी जी का युग द्वितीय महायुद्ध के पूर्व का युग था। यह युग सामाजिक, राजनीतिक जागृति का युग था। राजनीति के स्तर पर साम्यवाद, गाँधीवाद आदि का जोर था। गाँधीवाद का प्रचार-प्रसार व्यापक स्तर पर हो रहा था। इस संघर्ष का चित्रण उनके उपन्यासों में भी हुआ। गाँधी जी का सामाजिक आदर्श सर्वोदय था। सत्याग्रह जीवन का आदर्श और रामराज्य राजनीति का आदर्श था। गाँधी जी के व्यक्तित्व के विविध पक्षों को इस युग के साहित्य में, उपन्यास, कहानी इत्यादि के पात्रों में साकार किया जा रहा था। प्रेमचन्द की कहानियों और उपन्यासों में गाँधीवाद के व्यवहार पक्ष का उद्घाटन, हृदय परिवर्तन, स्वाधीनता संग्राम में सत्य, अहिंसा का प्रयोग, आश्रमों की स्थापना इत्यादि द्वारा हुआ। प्रेमचन्द के युग में अन्य कथाकारों विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक, सुदर्शन, भगवतीचरण वर्मा, जैनेन्द्रकुमार इत्यादि ने गाँधीवाद की अभिव्यक्ति की।

'दिगम्बर' द्विवेदी जी की पहली औपन्यासिक कृति है। जिसे द्विवेदी जी ने रेखांकन मात्र माना है। इक्कीस अध्यायों में विभक्त इस रचना को आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है। इसका मुख्य पात्र विमल है जो जीवन पर्यन्त स्नेह और सम्मान से वंचित संघर्ष करता रहा। वह मेधावी था पर शरीर से निर्बल और अभावग्रस्त था। अपने बाल्य संस्कारों से प्रकृति प्रेम, पिता की परिव्राजकता और वैष्णवी बहिन की सात्विकता द्वारा उसे सुरुचि और सौन्दर्य का संस्कार प्राप्त हुआ और उसी को उसने अपने जीवन का आधार बनाया। कथा के प्रारंभ में विमल के पड़ोस में एक ग़रीब कन्या का अनमेल विवाह एक धनवान व्यक्ति से हो जाता है पर विवाह के बाद ही वह अपनी सजीवता खो बैठती है। विमल इससे अत्यधिक क्षुब्ध होता है। काशी में बाल विधवा तपस्विनी वैष्णवी शिल्पिनी जो स्वावलम्बी और निर्भय है। उससे मिलकर विमल के प्रताड़ित हृदय को जैसे ममतामयी माँ मिल गयी। दूसरी ओर विमल में साहित्य-प्रेम पल्लवित हो रहा है। विमल का धनाढ्य-किशोरी लड़की के सम्पर्क में आना या उसके पिता द्वारा प्रताड़ित किए जाने पर आहत् होकर दुबारा वैष्णवी के पास जाकर शांति प्राप्त करता है। क्रूर समय और निर्मम समाज में शिल्पिनी का अभावग्रस्त जीवन जप-तप, पूजा-पाठ निराहार व्रत

शिल्पनी को और अधिक कृशकाय बना देते हैं और वह मंत्र की ज्वाला-सी धधक कर शांत हो जाती है। विमल के लिए उसका वियोग उसके जीवन का चिर रुदन बन जाता है। तो भी वह अपनी भावनाओं, कल्पनाओं और विचारों में समाधिस्थ होकर लिखता रहा। वास्तव में यह उपन्यास विमल और वैष्णवी तपस्विनी शिल्पिनी के माध्यम से द्विवेदी जी की अपनी और बाल-विधवा बहिन कल्पवती की ही कथा है।

'चारिका' द्विवेदी जी की दूसरी औपन्यासिक रचना है। जो भगवान बुद्ध की अध्यात्मिक यात्रा पर आधारित है। द्विवेदी जी ने इस रचना को आख्यानिका कहा। इसकी कथा सोलह अध्यायों में है जो गौतम बुद्ध के जीवन के विविध रूपों को आधार बना कर चली हैं। धर्मचक्र प्रवर्तन, युग दर्शन, अन्तर्निवेश, अनुसन्धान, प्रबोधन, पथ-निर्देश, समर्पण, सान्त्वना, वात्सल्य, परितोष, सम्मिलन, उत्सर्ग, लोकमाता, हृदय परिवर्तन, विसर्जन, प्रस्थान जैसे उप शीर्षकों द्वारा कथा क्रम आगे बढ़ा है। भगवान बुद्ध का सम्बोधित प्राप्ति से प्रारंभ कथा में सृष्टि को शांति प्रदान करने हेतु भगवान बुद्ध का इस भूमि पर अवतार लेना। समस्त सृष्टि में एक ही तत्व के दर्शन करना। महाश्रेष्ठि के पुत्र का भगवान बुद्ध की शरण में आना, और उसकी खोज में महाश्रेष्ठि का भी तथागत के शांति निवास में आकर संतप्त चित को शांति लाभ होना। तथागत अपने शिष्यों को दुःखों से मुक्ति के लिए विविध दिशाओं में भेज देते हैं। उधर यशोधरा का विरह विलाप और पितामह तथा महाप्रजापति के पुत्र विछोह राहुल की बाल्य क्रीड़ाओं का चित्रण है। राजा शुद्धोदन तरुण सामन्तों को भगवान बुद्ध के पास कपिलवस्तु में आगमन का सन्देश देकर भेजते हैं। पर वे प्रव्रजियत होकर संघ में शामिल हो जाते हैं। काल उदयी भी यद्यपि संघ में शामिल हो जाता है पर भगवान बुद्ध को कपिलवस्तु जाने के लिए प्रेरित करता है। तथागत वहाँ पहुँच कर यशोधरा तथा अन्य जनों को शांति लाभ देते हैं। राहुल को भी प्रव्रज्या प्रदान करते हैं। श्रावस्ती के कौशल नरेश प्रसेनजित और राजकुमार जेतकुमार भी तथागत के उपदेश से अनुगृहीत हुए। अंगुलिमाल भी तथागत के दर्शन लाभ करके पुनः नर पशु से नर श्रेष्ठ बन गया। वैशाली की जनपद कल्याणी आम्रपाली की कथा तथा प्रौढ़ावस्था में तथागत से उपसाम्दा एवं प्रव्रज्या ग्रहण करने की कथा है। कुशी नगर में तथागत के महाप्रयाण की कथा है। पर इसके पूर्व उन्होंने अपने भिक्षुओं को जनकल्याण के लिए सन्देश दिए। इस प्रकार यह रचना शिल्प और वस्तु तत्व दोनों दृष्टियों से अलग है। इसमें बौद्ध दर्शन के तत्वों का विवेचन विश्लेषण भी है।

'चित्र और चिन्तन'—द्विवेदी जी की तीसरी औपन्यासिक रचना है। द्विवेदी जी ने इस पुस्तक को 'पीड़ित मानवता के नाम सस्नेह' अर्पित किया है। 'चित्र और चिन्तन' एक तरह से लोकनिरीक्षण और युग विश्लेषण है। इसके स्वरूप के संबंध में द्विवेदी जी ने 'दो शब्द' में स्पष्ट किया, "उपन्यास न होते हुए भी निबन्धों के रूप में पुस्तक का क्रम-विन्यास

उपन्यास जैसा है। इसमें व्यक्ति, उसके परिवेश, उसका युग और उसका रचनात्मक चिन्तन है।"

इसमें द्विवेदी जी समाज के नव निर्माण पर विचार करते हैं। आज के भौतिकवादी और बुद्धिवादी युग में अपसंस्कृति के विकास से जीवन में अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं। द्विवेदी जी यंत्र युग की औद्योगिक उन्नति की अपेक्षा हस्तकलाओं के विकास को अधिक महत्त्व दिया है। द्विवेदी जी गाँधीवादी जीवन दर्शन के समर्थक थे इसलिए अहिंसा, निःशस्त्रीकरण तथा खादी के माध्यम से देश में स्वावलम्बन लाना चाहते थे। द्विवेदी जी ने कृति को अठारह शीर्षकों में रखा है। इस कृति का नायक कमल है जो गाँव के हरे-भरे वातावरण में पला है। परिवार में मृत्यु के क्रूर हाथों सबकी मृत्यु के बाद वह अकेला है। वह एक तरुण, विनम्र कलाकार है। अपने जीवन में अभाव और आसपास संसार में फैली स्वार्थपरता, संवेदनहीनता रूढ़िवादियों आदि से त्रस्त वह साधन सुरुचि, संस्कृति व सौन्दर्य की खोज में भटकता है। काफी हाउस की बातचीत में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थितियों पर विवाद होता है। पर उसके विचारों में कोई सहमत नहीं होता वह उपहास का पात्र बन जाता है। अकेला, निःसहाय और वीतराग। उसका सम्पर्क कुमुदिनी से होता है। वह कुमुदिनी की समस्याएँ हल करने की कोशिश करता है पर मकान के मामले में वह कुछ नहीं कर पाता और कुमुदिनी को जमानत के लिए दाँव पर लगा दिया जाता है। कमल का परिचय एक विदेशी युवती से होता है और उससे उसका भावात्मक तादात्म्य भी होता है। परन्तु वह इस स्वार्थी संसार में अकेला है, अतृप्त है और अभावग्रस्त है। संसार के कटु अनुभवों के बाद भी अपने स्वभाव की सरलता और महानता को छोड़ नहीं सकता। वह जिस युग में विचरण कर रहा है वहाँ दूसरे महायुद्ध के पश्चात् की स्थितियों में, स्वतंत्रता प्राप्त करने पर भी देश में नैतिक पतन की पराकाष्ठा है जहाँ साधारण जन पराधीन और प्रताड़ित है। कमल का विश्वास है कि मनुष्य की अर्थलिप्सा ने उसके विवेक को कुंठित कर दिया है इसलिए युद्ध अवश्यम्भावी है। इस अकाल समय में अब न संस्कृति है न दाक्षिण्य है, खेल स्वार्थों की कूटनीति और आर्थिक लोलुपता है। इसका निदान है तो केवल गाँधी जी के दर्शन में, उनके कर्म योग में।

द्विवेदी जी के तीनों उपन्यास अपने समय के घटनात्मक सत्य, लेखक के परिपक्व अनुभव और सूक्ष्म पर संवेदनशील दृष्टि के कारण अपने युग के यथार्थ का गहन अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। इसमें शैलीगत नयापन है, कलात्मक कौशल और वर्णनों की रोचकता है जो पाठकों को कृति से बाँधती है। उपन्यासों के चरित्र यथार्थ जीवन से उठाए गए हैं। वास्तव में कमल और विमल एक ही पात्र हैं जो स्वयं लेखक के जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं। दोनों प्रमुख पात्र कालजीवी हैं, सुसंस्कृत, शालीन, सुरुचिपूर्ण हैं पर सांसारिक दृष्टि से उनका जीवन अभावग्रस्त और निःसहाय है, समाज में उनका कोई सामंजस्य नहीं

हो पाता। जीवनपर्यन्त संघर्ष ही उनका जीवन है। उपन्यासों के नारी पात्र वैष्णवी, मालती, यमुना, कुमुदिनी, सामाजिक विसंगति की शिकार हैं। जो जीवन भर कष्ट और दुःख झेलती हैं परन्तु अपनी आत्म-शक्ति, आत्म-समर्थता, स्वावलम्बन से क्रूर संसार के सम्मुख घुटने नहीं टेकती, उससे संघर्ष करती हैं। इन सभी का जीवन संस्कृति एवं कला से सम्पन्न था। समाज में ये स्त्रियाँ भाव कोमल, वात्सल्य युक्त, स्नेहपूर्ण तथा सभी मानवीय गुणों से पूर्ण होकर भी अभिशप्त हैं। वैष्णवी बाल-विधवा थी, मालती अनमेल विवाह की शिकार, यमुना विद्रूप संसार की कटुता से आक्रान्त, कमिलिनी सीधी-सादी कविता-सी सरल पर उसका जीवन भी दाँव पर लगा दिया जाता है। वह अपनी वेदना में विह्वल पर मूक है। इन नारी पात्रों द्वारा लेखक हमारे समाज में नारी की दीनहीन और निरीह दशा को चित्रित कर सका है 'चारिका' में गौतम बुद्ध मुख्य पात्र है। उनका चरित्र सम्बोधि पथ की कसौटी पर खरा उतरता है। पर वहाँ भी यशोधरा का चरित्र-चित्रण मार्मिक है। यशोधरा, गौतम की पत्नी पति के निष्क्रमण के बाद, आहत, व्याकुल है पर स्वयं को परमार्थ पथ पर लगा देती है। प्रणय में उसकी समभागिनी यशोधरा संन्यास में उसकी सहयोगिनी बनती है। अपने पुत्र राहुल को भी प्रव्रज्या प्रदान कराती है। वह परमार्थपूर्व त्यागमयी नारी है।

द्विवेदी जी की इन कृतियों में भाषा समन्वित है। परिस्थिति, पात्र एवं प्रयोजन के अनुरूप है। कहीं सरल बोलचाल की भाषा है तो कहीं क्लिष्ट संस्कृत बोझिल तो अन्य स्थलों पर आवश्यकता के अनुसार विदेशी भाषा उर्दू, अरबी, फ़ारसी के शब्दों से युक्त भी है। द्विवेदी जी की भावुकता और अतिसंवेदनशीलता के कारण उनकी भाषा का एक महत्त्वपूर्ण रूप है काव्यमयी भाषा। इन कृतियों में द्विवेदी जी ने वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक, स्मृतिपरक, अथवा फ्लैशबैक शैली, मनोविश्लेषणात्मक शैली, डायरी शैली इत्यादि विविध शैलियों का प्रयोग भी अनुरूपता के आधार पर किया है। जैसे कथानक को गति देने के लिए वर्णनात्मक शैली, विचारों, सिद्धान्तों तथा अपने मतों के विवेचन के लिए विश्लेषणात्मक शैली, अतीत जीवन को वर्तमान में लाने के लिए फ्लैशबैक शैली, कथा में नाटकीयता और चमत्कारिता तथा गति के लिए संवाद शैली तथा स्त्रियों की विगलित भावनाओं की अभिव्यक्ति तथा प्रकृति की पृष्ठभूमि के लिए काव्यात्मक शैली का प्रयोग किया है। पात्रों की मनःस्थिति के चित्रण के लिए मनोविश्लेषणात्मक शैली प्रयोग में लायी गयी है। द्विवेदी जी ने इन रचनाओं में देशकाल के व्यापक फलक पर विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक तथा आर्थिक स्थितियों का चित्रण करके रचनाओं को प्रभावकारी बनाया है। द्विवेदी जी के ये रचनाएँ सोद्देश्य हैं। इनमें आधुनिक यांत्रिक जीवन की पृष्ठभूमि में मानवीय चेतना को उद्बुद्ध किया है। युद्ध तथा यंत्र की विभीषिका से अभिशप्त

मानव की शांति तथा विस्तार के लिए गाँधी दर्शन एवं जीवन पद्धति का प्रतिपादन किया है। बौद्ध दर्शन और गाँधीदर्शन का सैद्धान्तिक, वैचारिक तथा कलात्मक विवेचन विश्लेषण भी उपन्यासों में वर्णित किया है।

काव्य

द्विवेदी जी के विपुल गद्य साहित्य में भी उनकी संवेदनशीलता, भावुकता, कोमलता और सौन्दर्य दृष्टि उनके कवि होने की घोषणा करते हैं। द्विवेदी जी की कविताओं के दो लघु संग्रह प्राप्त होते हैं 'नीरव' और 'हिमानी'। जो उनके कलेवर की ही तरह क्षीण काय हैं। इनके अतिरिक्त 'मधु संचय', और 'परिचय' दो अन्य काव्य कृतियों को भी सूचीबद्ध किया गया है पर ये कृतियाँ अनुपलब्ध हैं। 'नीरव' में द्विवेदी जी की सन् 1924 से सन् 1929 तक कुल 37 कविताओं का संकलन है जिसमें विभिन्न मानवीय मनोवृत्तियाँ की अभिव्यंजना है। द्विवेदी जी ने लिखा, 'नीरव' में निराला जी के परिमल और पन्त जी के पल्लव का प्रभाव है और 'हिमानी' में 'गुंजन' का। इन कविताओं में कोमल और सरल हृदय की अनुभूतियाँ तो हैं पर वैचारिक प्रौढ़ता का अभाव है। इन कविताओं में जिज्ञासा, उत्कंठा, कौतूहल और भावुकता के स्वर मुख्य हैं। यह समय छायावादी कविता का समय था और द्विवेदी जी पर छायावादी कविता का प्रभाव भी पड़ा तथापि उसमें वैयक्तिक और सामाजिक चेतना के स्वर भी निहित हैं। इन कविताओं में प्रमुख सभी रस हैं। द्विवेदी जी ने लिखा, "श्रृंगार रस की अपेक्षा मेरी कविताओं में शांत, करुण और वात्सल्य रस अधिक है। ये मेरे जीवन को प्रतिबिम्बित करते हैं।"

द्विवेदी जी ने लिखा, 'नीरव' और 'हिमानी' में कई तरह की कविताएँ हैं किन्तु उन सबमें सौन्दर्य की प्रधानता है। 'मैं सौन्दर्योपासक हूँ।' 'मलयानिल' और 'यमुने' 'रंगीली तितली' कविताएँ प्रकृति सौन्दर्य को प्रस्तुत करती हैं। "सृष्टि में जहाँ कहीं लघुता, शिशुता दिखाई देती है वहाँ कवि को अपनी अनुरूपता मिल जाती है।" इसलिए 'तितली' के साथ कवि की आत्मा भी बालिका बन जाना चाहती है — निश्छल, चंचल और उन्मुक्त। तितली पर इस संग्रह में तीन कविताएँ हैं। कवि तितली को संबोधित करता है —

तितली
तितली
मुझको भी तो
दे दो अपनी चंचलता
दे दो, दे दो, हाँ सखी, मुझको
अपनी प्यारी कोमलता
वन-वन विचरण करूँ तुम्हीं-सी
एक बालिका बन छविमय

फूली नहीं समाऊँगी मैं
खेलूँगी निशि दिन निर्भय

'रंगीली तितली' कविता में भी वह तितली के सौन्दर्य पर मुग्ध हैं। और 'अरुण तितली' में कवि उसके रंग पर और चंचलता पर मोहित होता है।

'मलयानिल' कविता में भी मलय समीर को संबोधित करते हुए कवि ने परोक्ष रूप से सृष्टि के कण-कण में सुन्दरता का अनुभव किया है और समीर की चंचलता का चित्रण किया है।

यद्यपि कवि चाहता था कि "कभी न धधके प्रेम अग्नि वह/जिसमें उठती रहती आह।" और उन्होंने यह भी कहा कि "यौवन को कोई ठोस आधार नहीं मिला, वह राह से ही लौट गया।" इसलिए श्रृंगार रस की प्रेमपूर्ण कविताएँ उन्होंने लिखीं, तथापि कुछ कविताओं में यौवन का प्रेमोन्मेष भी व्यक्त हुआ है। 'अधखिली कली', 'यमुने', 'दिवाली', 'पद अंक' कविताएँ उल्लेखनीय हैं। तथापि कवि के अनुसार इनमें 'पुरुष का प्रणय नहीं, प्रेमिका का हृदय है।' 'मनोवेग' शीर्षक कविता में नवोढ़ा नववधू है जो लाज से लिपटी है उसी के हृदयगत भावों की अभिव्यक्ति इसमें हैं। 'प्रतीक्षा' कविता में प्रकृति द्वारा कवि ने अपनी वेदना और व्याकुलता को व्यक्त किया है। 'विज्ञापन' में भी कवि हृदय की वेदना है। वह वेदना जो उनके सम्पूर्ण जीवन का पर्याय है। वह उग्र वेदना से मुक्त होना चाहता है। 'खादी', 'आकांक्षा', 'मुरझे फूल' 'उत्सर्ग कविताओं' में कवि ने दुःख और सुख की व्याख्या की है।

कवि की करुण अनुभूति ने उन्हें संवेदनशील बना दिया। उनकी सहानुभूति भेद-भाव भुलाकर उन सभी जड़, चेतन और निर्धन सम्पन्न दुखियों के साथ समरस हो गयी जो उनकी ही तरह अपनी वेदना में अभिशप्त है। 'वंशी' की सुरीली लय में उन्हें अपना ही क्रन्दन सुनायी देता है।

"अहो तुम भी रोती हो आज, व्यथा के गाकर व्याकुल गान
कहो किस निर्दय ने सुकुमारि
तुम्हारे बेधे हैं ये प्राण ? व्यथा में भी है भरी मिठास, तभी तो मृदुमधुमय है गान
किसी की क्रन्दन ध्वनि भी हाय, सुरीली बन जाती है तान।"

ग्रीष्म ऋतु में तपती 'बालुका' के बिखरे कणों में कवि को 'आत्मासादृश्य' मिला —

री पददलितें चूर्ण हुए से बिखरे हैं क्यों तेरे गान ?
बता बता, अयि विकल बालुके जलते हैं क्यों तेरे प्राण ?

'वेदना से' कविता में वेदना मानो कवि की प्रियतमा है। जिससे आलिंगनबद्ध होकर वह जीवन भर वहन करना चाहता है। 'संताप' कविता में भी कवि का रुदन है। 'मुरझे फूल' कविता में मुरझाये फूल कवि को सुख की नश्वरता का पाठ पढ़ाते हैं। जो क्षण में अपना सौरभ बिखेर कर मुरझा जाते हैं। 'तरुपात' कविता में जीवन की नश्वरता तथा

अस्थिरता का चित्रण है। 'आकांक्षा' और 'माँ' कविताओं में कवि के मानवीय सरोकारों की अभिव्यक्ति है।

'कवि की आकांक्षा है कि वह स्वयं की आभा से प्रज्ज्वलित होकर स्वयं को क्षीण करके भी संसार में प्रकाश फैलाए। कलुषित जीवन में उज्ज्वलता की कामना करते हुए वह चाहता है कि इस संसार में संतप्त और दुःखी प्राणी उसके जीवन से शांति लाभ करे। 'माँ' कविता में कवि की कामना है कि सभी में बन्धुत्व की भावना का उद्रेक हो। 'निर्झरिणी की स्वतंत्रता' कविता में निर्झर अपनी स्वतंत्रता से मनुष्य को सन्देश देता प्रतीत होता है।

'हिमानी', 'नीरव' के बाद की काव्य-रचना है। इसमें संकलित 21 कविताओं में विविधता है। जिनमें से अधिकांश कविताएँ शीर्षकहीन हैं। 'हिमानी' प्रकृति माँ है उसी का स्मित-हास प्रकृति में भासित है वही कवि की प्रेरणा है। "मानव जगत से वंचित हो जाने पर मैंने प्रकृति के एकान्त में ही अपने संतप्त हृदय को सान्त्वना दी।" प्रकृति का स्पन्दन संगीतमय है। मानव जीवन में सुख-दुख दोनों में ही प्रियतम की करूण मूर्ति के दर्शन होते हैं। 'हिमानी' की कविताओं में छायावाद की भावुकता, सांकेतिकता, कोमलता तथा प्रकृति प्रेम के साथ धूमिलता, रहस्यवादिता तथा रहस्यात्सुकता सभी विशेषताएँ लक्षित होती हैं। कवि पन्त के 'गुंजन' से प्रभावित है। कवि प्रकृति की तरह मनुष्य को भी प्रफुल्ल देखने का आकांक्षी है। मुरझाए किशोर मुख को देखकर कवि उच्छ्वासित और विगलित हो उठता है।

"— किन्तु हाय, क्यों दो दिन में ही
'तुम भी मुरझा चले अहो,
किस विषाद से,किस अभाव से
मुझसे भी कुछ कहो-कहो
मेरी आँखों में है जब तक
जल की ये बूँदें दो चार
कैसे मुरझा जाओगे तुम — ऐ मेरे प्रियतम सुकुमार।"

कवि को सौन्दर्य की दृष्टि से शैशव और कैशोर्य प्रिय है, उसमें हृदय का सारल्य मिलता है। मेरा कवि हृदय स्वयं भी चिरशिशु, चिरकिशोर है। विश्व जननी प्रकृति के चरणों में मेरी लघिमा ही आत्म निवेदन कर रही है। दृष्टव्य है कविता 'माँ' —

"माँ ! मैं लघु से लघु होकर भी
तेरी महिमा दिखलाऊँ
एक तारिका बन कर, तेरी —
शशि छवि अधिक बढ़ा जाऊँ
तेरी वीणा के तारों से
एक गीत बन मंडराऊँ

तेरी ही बन एक रागिनी
लय अनन्त में हो जाऊँ !"

कवि के वंचित और सूने संतप्त जीवन का एकमात्र आधार प्रकृति है। वहीं उसे सान्त्वना मिलती है —

"सुने दिगन्त में बार-बार
मैं रह-रह कुछ उठता पुकार
निज व्यक्ति हृदय का व्यथित भार
रे, किससे उर में दूँ उतार
उस पार खड़े वे तरु अपार
हैं मुझे रहे अपलक निहार
इस बार भंग है यह कगार
मुझसा ही मानो निराधार।"

'गगन के प्रति' कविता में प्रकृति के क्रिया-कलाप तथा मानवीय सुख-दुख व वेदना की व्यंजना है। 'कोलाहल' और 'याचना' कविताओं में दार्शनिकता एवं रहस्यात्मकता है। 'प्रवाहिणी' के तट पर बालू के बिखरे कणों को देखकर भी कवि सोचता है कि एक और जीवन लहरा रहा है, दूसरी ओर सैकत कण चातक की तरह अतृप्त हैं —

"उस सूखे सूने तट पर बिखरे हैं बालू के कण, ।
क्या टूटे हुए हृदय से गिनती के जीवन के क्षण ?
— रे एक बूँद जीवन की दे सका न क्या उसको घन ?
चिरसजल स्नेह से वंचित मुझसा ही क्या उनका मन ?

द्विवेदी जी छायावाद को श्रेष्ठतर अभिव्यक्ति मानते थे। ये कविताएँ भी छायावादी बोध की कविताएँ हैं। तथापि कुछ कविताओं में प्रगतिवादी चिन्तन और यथार्थ बोध की अभिव्यक्ति भी हुई है। "भिखारणी" मानव समाज की निष्कासित स्त्री है इसे देखकर कवि द्रवित हो उठता है —

"धूलि धूसरित जीवन पथ में
कब से बैठी तू बाले
कब से सने हुए हैं रज में
तेरे कुन्तल काले
— कहाँ गया संकोच दृगों का
कहाँ कमल मुख की रह लाज
दो कानों पर पिक-सी बानी
लुटा रही तू क्यों यों आज ?

'हल्दी घाटी' वीरभाव की कविता है। इस कविता का सन्दर्भ ऐतिहासिक है। इसमें मौन और उदास हल्दीघाटी के चित्र मुखर हैं।

इस प्रकार द्विवेदी जी की कविता में मुख्य भाव हैं प्रकृति चित्रण, प्रेम भावना, वेदना भाव, दार्शनिकता और यथार्थवाद। छायावादी कवियों ने प्रकृति को भिन्न रूप में पहचाना। प्रकृति सजीव रूप धारण कर कवि के दुख-सुख की चिर संगिनी बनी। साथ ही, वह स्वतंत्र शक्तिमान सत्ता के रूप में भी उनको प्रेरित करती रही। द्विवेदी जी की जिज्ञासा, कुतूहल, भावुकता और उत्कंठा के भाव से प्रकृति की जिस निर्द्वन्द्वता और प्रफुल्लता के वातावरण में खेलता था उसे ही काव्य में देखना चाहता था। कवि शैशव की सरलता और किशोर मन की उमंगें लिए संबसे पहले कविता के क्षेत्र में आए। धीरे-धीरे प्रकृति की गहन गंभीरता को भी आत्मसात करते हुए विविध रूपों से उसे काव्य में अभिव्यक्ति दी। प्रकृति उनकी कविता में स्वतंत्र सत्ता के रूप में तो आयी पर अधिकतर उद्दीपन रूप में और चेतन होकर मानवीय भावों की अभिव्यक्ति का आधार बनकर प्रस्तुत हुई है। प्रस्तुत में अप्रस्तुत के विधान के लिए प्रकृति की उपस्थिति छायावादी कवियों की तरह द्विवेदी जी की कविता में भी उल्लेखनीय है। दृष्टव्य है कविता 'जुगनू की बात', 'हिमानी' संग्रह में।

द्विवेदी जी ने प्रकृति में अलौकिक सत्ता के भी दर्शन किए और उसे कविताओं में व्यंजित किया। कवि ने प्रकृति के साथ तादात्म्य भी स्थापित किया।

द्विवेदी जी की कविता में दूसरी प्रमुख प्रकृति प्रेम भावना की लौकिक एवं अलौकिक दोनों रूपों में अभिव्यक्ति है। स्थूल प्रेम का चित्रण प्रकृति के माध्यम से होने पर उसमें एक विशेष प्रकार की सूक्ष्मता आ गयी है। प्रेम कविताओं में पुरुष प्रणय की अपेक्षा प्रियतमा का प्रणय भाव प्रमुख है जिनमें संकोच, लज्जा संयोग में तथा अश्रु, उच्छ्वास, निराशा इत्यादि भाव वियोग प्रेम से व्यंजित हुए हैं। द्विवेदी जी पन्त से भी विशेष रूप से प्रभावित थे। पन्त की कविताओं की छाया उनकी कई कविताओं में दृष्टिगत होती है —

"तुम आये प्रिय हाँ ले आये वह मेरा सुख स्वप्न विलास
मेरी आँखों में फिर उमड़ा, नव शोभामय नव उत्साह
किन्तु हाय, क्यों दो दिन में ही
तुम भी मुरझा चले अहो
किस विषाद से, किस अभाव से
मुझसे भी कुछ कहो-कहो।

प्रेम भावना का एक स्वरूप आध्यात्मिक भी है जो द्विवेदी जी की कविताओं में व्यक्त हुआ है। यथार्थवाद की प्रवृति भी द्विवेदी जी की कविताओं में दृष्टिगत होती है। कवि ने जहाँ पीड़ित और प्रताड़ित जन के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त की है वहाँ उनका मानवतावादी दृष्टिकोण भी व्यंजित हुआ है। भिखारिणी में दीनहीन स्त्री का चित्र है। पर

इस स्थिति का निराकरण कवि ने प्रकृति की ओर लौट जाने में माना है। आज अकाल निवारण के लिए 'नदियों से पानी' और 'वसुधा से चावल दो चार' की माँग चारों ओर हो रही है। फिर हमें प्राकृतिक उद्यम का आश्रय लेना पड़ रहा है। इसलिए कवि भिखारिणी को प्रकृति की ओर लोटने का परामर्श देता है।

"छोड़ो उनकी मिथ्या आशा,
आओ चले प्रकृति के देश
वहीं पूर्ण होगी अभिलाषा,
जग को दे दो जग का क्लेश।

उनका सामाजिक स्वप्न था कि प्रकृति के साथ सान्निध्य में जब कृषि का विकास होगा तब जीवन फिर काव्य सरस हो जाएगा। वास्तव में द्विवेदी जी का यथार्थवाद गाँधीवादी जीवन दर्शन से प्रभावित है। इसलिए जीवन और जगत की समस्याओं का समाधान वे गाँधीवादी जीवन दृष्टि में ही ढूँढ़ते हैं —

"सरल गरीबों के आँसू सी, खादी तू है शुचि निर्मल
शीतल है तू सन्त हृदय-सी, चैत चाँदनी-सी उज्ज्वल
तू अपनी निर्मलता से कर, कलुषित हृदयों को निर्मल
ओ अपनी उज्ज्वलता से कर, भारत को भावी उज्ज्वल"।

प्रकृति के प्रति कवि का अनुराग उसे प्रकृति की रहस्यात्मकता में गहन चिन्तन-मनन की ओर प्रेरित कर दार्शनिक की तरह जीवन तथा जगत के रहस्यों पर विचार करने के लिए प्रेरित करता है। मध्ययुगीन-भक्तियुगीन कवियों से अलग होकर छायावादी कवियों की कविता में दार्शनिक चिन्तन उपलब्ध होता है। चिन्तन की प्राचीन परम्परा से प्रभावित होकर भी छायावादी चिन्तन रूढ़ नहीं है। द्विवेदी जी ने भी छायावादी उदार भावना से प्रेरित होकर अपनी कविता में जीवन के प्रति एक व्यापक दृष्टि और मानवतावादी जीवन दर्शन को व्यक्त किया है। इनकी कविता में मानव कल्याण की भावना प्रमुख है। कवि ईश्वर की सत्ता को सर्वव्याप्त देखता है, जीवन में दुःख-सुख की छाया धूप से आप्लावित जीवन की शाश्वतता को स्वीकार करता है। प्रकृति कवि को आत्मा और परमात्मा के द्वैत-अद्वैत के चिन्तन की ओर प्रेरित करती है। आत्मा परमात्मा का अंश, उनके मिलन में संसार की माया ही बाधक है --

माया के इस लीलागृह में खोल विश्व के नेत्र अपार।
स्वयं छिप गया चतुर खिलाड़ी, पलक यवनिका के उस पार।

प्रकृति का उदात भाव, प्रकृति का विपुल सौन्दर्य, प्रकृति की रहस्यात्मकता सभी उस नियंता ईश्वर का आभास देती है। तथापि उस अदृश्य शक्ति के प्रति वह आकर्षित तो होता है पर कवि का अपनापन मानव के साथ ही है — 'मानव रह कर मानव से मैं। जोडूँगा फिर अपनापन।' द्विवेदी जी का काव्य कवि-चेतना के उदात्तीकरण का और जीवन

के कटु अनुभवों के रचनात्मक प्रयोग का काव्य है। इसीलिए इनकी कविताओं में अनुभूत वेदना की मार्मिकता है। यह वेदना व्यक्तिगत स्तर से होती हुई समष्टि रूप में विस्तार पा गयी है। कवि अपने समान समाज के प्रताड़ित और पीड़ितों के प्रति सहृदय है। व्यक्तिगत पीड़ा का परिहार वह प्रकृति की उदारता और उसके सौन्दर्य में कर लेता है। प्रकृति मानों उसी के मनोभावों का प्रतिबिम्ब है — "उस पार खड़े वे तरु अपार/है मुझे रहे अपलक निहार/इस पार मग्न है यह कगार/मुझसे ही मानो निराधार/" छायावादी कवियों की तरह द्विवेदी जी की प्रकृति भी उनके दुःख-सुख से आप्लावित उनके भावों की सहचरि है। 'नीरव' संग्रह में 'अधखिली कली' कविता दृष्टव्य है। प्रकृति का प्रत्येक कण कवि की वेदना का प्रसार है। वेदना मानो उसकी प्रियतमा है — "तू मेरी है प्रिया, वेदने/मैं तेरा चिर प्रियतम/बालकाल से परिचित हैं हम, जो तम से दिन, दिन से तम/" तथापि कवि जीवन में सुख-दुख को समन्वित रूप से स्वीकार करता है। यही समन्वय ईश्वर की साधना का साधन है —

दुख में आता है वह प्रियतम, फैलाकर निज करुणा कर
सुख में गाता है वह निरुपम, अधरों पर निज मुरलीधर
मेरे मुख में सुन्दर की छवि, उज्ज्वलतर से उज्ज्वलतर
मेरे दुःख में प्रियतम की छवि, कोमलतर से कोमलतर।

इस तरह द्विवेदी जी का काव्य मानवीय भावनाओं के सौन्दर्य का काव्य है। प्रकृति प्रेम के साथ-साथ मानवीय करुणा, ममता, सौहार्द, प्रेम और सहानुभूति के गुणों को प्रतिपादित करता है। यन्त्रवाद, स्वार्थ और जड़ शक्तियों का विरोध करता है।

द्विवेदी जी के अनुसार 'कवि जीवन के कटु अनुभवों को हृदय की भावनाओं के सौन्दर्य में संजोकर काव्य में व्यंजित करता है।' यही उन्होंने अपनी कविताओं से भी किया है। उनका काव्य प्रकृति के प्रति उनके गहरे अनुराग की व्यंजना है। इस दृष्टि से वात्सल्य, शांत एवं करुण रस ही अधिकतर कविताओं में व्यक्त हुआ है। कविताओं में प्रेम और सौन्दर्य का आधार द्वयात्मक है जो लौकिक तथा आलौकिक सौन्दर्य में व्यक्त होता है। श्रृंगार रस में विप्रलम्भ श्रृंगार की योजना अधिक है। जो प्रकृति के विभिन्न क्रिया-कलापों में ही अभिव्यक्त हुआ है। कलात्मकता के गुणों से परिपूर्ण द्विवेदी जी की कविताओं में भाषा का अनायास अलंकरण हुआ है। अनुप्रास, रूपक, उत्प्रेक्षा, उल्लेख, अतिशयोक्ति के अतिरिक्त छायावादी काव्य से प्रभावित ध्वन्यात्मकता एवं लाक्षणिकता शब्द-शक्तियों के साथ मानवीकरण तथा विशेषण-विपर्यय का भी प्रयोग है।

'इन्हीं आँखों में नित निरुपाय, उमड़ आते हैं नीरव गान —' विशेषण विपर्यय का उदाहरण है।

भाषा की दृष्टि से द्विवेदी जी की काव्य भाषा में चित्रात्मकता, ध्वन्यात्मकता और मधुरता के गुण हैं। द्विवेदी जी जीवन में और काव्य में भी सुरुचि, शुचिता व संस्कार तथा

कोमलता के पक्षपाती थे। इसलिए उनके काव्य में दुखद, नीरस, अथवा कटु-कठोर शब्दों का प्रयोग नहीं है। छायावादी कोमल कांत पदावली का ही प्रयोग अधिक है। द्विवेदी जी ने तुकान्त और मुक्तछन्द दोनों का प्रयोग किया। उनके विचार में भावों की गति छन्द में सहायक होती है वहाँ मुक्त छन्द भावनाओं के सहज उद्रेक में सहायक बनते हैं। इस तरह द्विवेदी जी के काव्य में कलात्मकता की भी सहज अभिव्यक्ति हुई है।

आत्मलेखन तथा संस्मरण

शांतिप्रिय द्विवेदी ने निबंध, आलोचना, उपन्यास और कविता के साथ आत्म-व्यंजना प्रधान अथवा संस्मरणात्मक लेखन भी किया। 'पथचिन्ह', 'परिव्राजक की प्रजा', 'प्रतिष्ठान', 'स्मृतियाँ और कृतियाँ', रचनाओं में उनके जीवन के संस्मरणों का संकलन है। इन संस्मरणों के माध्यम से द्विवेदी जी ने साहित्य, संस्कृति, कला, दर्शन तथा समकालीन समस्याओं पर अपने विचार व्यक्त किए। द्विवेदी जी की आलोचना और निबंधों में जैसे एक कोमल हृदय कवि विद्यमान रहा है वैसे ही आत्म-व्यंजना प्रधान लेखन में उनका विचारक और चिन्तक भी सचेत रहा है। इस तरह द्विवेदी जी के साहित्य में सर्वत्र वैचारिकता और वैयक्तिकता का समन्वय हुआ है।

'पथचिन्ह' संस्मरण प्रधान रचना में द्विवेदी जी ने संस्कृति एवं कला-चिन्तन के द्वारा विश्व व्याप्त समस्याओं पर विचार किया है। यह आत्म परिचयात्मक शैली में लिखी गयी रचना है। अपनी बहिन कल्पवती को भारत की आत्मा मानकर और उनके व्यक्तित्व को केन्द्र बनाकर जीवन और युग से जुड़ी समस्याओं का विवेचन किया है। यांत्रिक युग में संस्कृति एवं कला गौण हो जाती है। 'स्मृति चिंतन' निबंध में भैया-दूज के अवसर पर बहिन कल्पवती को स्मरण करता है। 'आहुति' में भी बहिन को जीवन पर्यन्त धधकती चिता-सी भीतर-ही-भीतर सामाजिक विषमताओं की आग में जलती रहती। उसकी मृत्यु जिन विसंगत स्थितियों में हुई मानो वह उसके जीवन की पूर्णाहूति थी। 'अभिशापों की परिक्रमा' निबंध में इस अभिशप्त जगत से बहिन की मृत्यु का स्मरण है। लेखक का स्वयं का जीवन भी एकाकी और अभिशप्त रहा। साथ ही, अपनी स्वतंत्र प्रकृति का भी उल्लेख किया है और परिव्राजक पिता का भी परिचय दिया है। 'पर्यवेक्षण' निबंध में दूसरे महायुग के बाद की त्रासद स्थितियों का चित्रण है। युद्ध की विभीषिका ने जीवन की गति को अवरुद्ध कर दिया है। देश के सारे साधनों का युद्ध के लिए शोषण किया गया है और अब इन साधनों के अभाव से जन पीड़ित हैं। 'अन्तः संस्थान' निबंध में द्विवेदी जी ने साहित्य, संगीत तथा कला द्वारा जीवन में नवचेतना को जाग्रत करने की बात कही है। आज हमारे जीवन में मानवीय संवेदना का अभाव है इसी से जीवन त्रस्त है। कवीन्द्र रवीन्द्र और गाँधी ने भी इसके लिए अपने-अपने साधनों द्वारा प्रयास किया पर आज भी संस्कृति एवं कला द्वारा जनता में सुरुचि और संस्कार जागृत करने की आवश्यकता है। विश्व के नवजागरण

में कलाकार और कवियों का सहयोग अपेक्षित है। इस तरह इसमें संकलित निबंध एक ओर उनके अपने जीवन के कटु अनुभवों का व्योरा है तो उनके माध्यम से लेखक ने युग में व्याप्त विरोधी स्थितियों का भी विवेचन किया है।

'परिव्राजक की प्रजा' द्विवेदी जी ने क्रमबद्ध तरीके से विगत स्मृतियों द्वारा अपनी आत्मकथा कही है। कृति का शीर्षक भी इसी ओर संकेत करता है कि परिव्राजक पिता या सन्तान की आत्मकथा ही इस कृति का विषय है। इसकी लेखन शैली 'पर्सनल ऐसे' की है जिसमें निबंध तथा कहानी दोनों विधाओं का समन्वय है। पुस्तक के पहले खण्ड बाल्यकाल में प्रारंभिक जीवन से संबंधित संस्मरणों में भावात्मक शैली में अपने बाल्यजीवन का परिचय दिया है। उत्तरकाल में लेखक के विपरीत परिस्थितियां में-से अपने अडिग निश्चय द्वारा अपना रास्ता बनाते चले जाने का भावात्मक वर्णन है। एक ओर उनका अभावमय जीवन और आर्थिक संघर्ष है तो दूसरी ओर विभिन्न साहित्यिक और राष्ट्रीय प्रतिभाओं से उनका परिचय। विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत लेखक ने इसे क्रमबद्ध किया है।

बाल्यकाल खण्ड में 'मुक्त पुरुष' शीर्षक के अन्तर्गत अपने पिता के जन्म-स्थान, जन्म-भूमि और उनके परिव्राजक स्वभाव का परिचय दिया है। 'सगुण शिशु' में उस मोहल्ले का चित्रण है जहाँ उसका बचपन बीता। माँझियां की वह बस्ती जहाँ उसे लाड़-प्यार मिला, उसकी स्मृतियाँ हैं। मातृविसर्जन में बचपन में आश्रयदाता उदारहृदय किन्तु विवश दुःखभंजन मिश्र अर्थात् दुक्खू चाचा और उनकी कर्कशा पत्नी का परिचय है। 'वन देवी का अंचल' स्नेहिल प्रकृति के आँचल में जैसे गाँव का आँचल है जहाँ काशी से उनकी बहिन आकर रहने लगी। उस परिवार में उन्हें केवल वृद्धा दादी की ममता का ही सम्बल था। 'साधना की साध्वी' बहिन कल्पवती थी। एकाकि, पर स्वावलम्बी और तेजस्विनी। 'बाल्य क्रीड़ा' में बचपन के खेलकूद और उन्मुक्त जीवन का वर्णन है। साथ ही, पढ़ाई में मन न लगना और त्यौहारों और मेलों में सक्रिय भागीदारी लेने की स्मृतियाँ हैं। 'लीला और मेला' में गाँव की कृष्णलीला एवं रामलीला इत्यादि जो मनोरंजन के लिए थे उनमें बच्चों की रुचि का चित्रण है।

'अप्रत्याशित निमन्त्रण' बहिन के पास अमाला जाकर रहने का निमंत्रण था जहाँ उन्हें अनिच्छा से जाने के लिए विवश होना पड़ा। 'अन्तःप्रस्फुटन और वातावरण' में बहिन की स्थितियों का चित्रण है। 'जीवन के तट पर' संस्मरण काशी आगमन के बाद के जीवन की घटनाएँ हैं। 'परिपाटी का परित्याग' में स्कूल की पढ़ाई छोड़ने का उल्लेख है। 'उत्तरकाल' में 'आधार की खोज में' स्कूल की पढ़ाई छोड़ने और बहिन कल्पवती के नाराज होने की स्मृतियाँ हैं। 'नेताओं की झाँकी' में काशी विद्यापीठ के संस्थापन समारोह में आने वाले नेताओं के भाषण और उनके व्यक्तित्व से लेखक के प्रेरणा लेने का चित्रण है। 'आनंद परिवार' में उपवास के महत्त्व और लेखक के लिए अभाव उनका वरदान और अभिशाप दोनों होने का उल्लेख है। उन्होंने संस्कार और स्वाध्याय को ही जीवन का आधार

बनाया। 'छायावाद की स्थापना' में लेखक के काशी आने, पुनः आजीविका ढूँढने, टालस्टाय की 'अन्ना' पर लेख लिखने का उल्लेख है। 'भारत' में छपे इस लेख से प्रभावित पं. केशवदेव शर्मा 'भारत' के संपादकीय विभाग में लेने और प्रथम आलोचना ग्रंथ 'हमारे साहित्य निर्माता' के प्रकाशन का व्योरा है। इसी से सबसे पहले छायावादी कविता का विवेचन हुआ। इसके पश्चात् 'कवि और काव्य' मे उन्हें और अधिक सम्बल मिला। 'व्यक्ति और समाज' निबंध में बहिन की मृत्यु के बाद एकदम निःसम्बल हो जाने की एकाकी मनःस्थिति का चित्रण तथा मित्रों एवं परिचितों द्वारा सहानुभूति व्यक्त किए जाने का वर्णन है। 'संचारिणी' और 'युग और साहित्य' के प्रकाशन का उल्लेख है। 'रचनात्मक दृष्टिकोण' लेख में 'कमला' पत्रिका छोड़ने और फिर से आर्थिक संकट से घिर जाने का स्मरण है। अस्वस्थ होने पर भी 'सामयिकी' की रचना और भ्रमणशील प्रवृत्ति 'वीणा' के सम्पादन और उसके सम्पादकीय में कला और संस्कृति के प्रति अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करने की घटनाओं का व्योरा है। 'पथचिन्ह्' का प्रकाशन हुआ उसमें संस्कृति और कला के स्वर मुखर थे। गाँधी जी के ग्रामोद्योग और कर्मयोग का समन्वय था। 'धरातल' में उद्योग, संस्कृति एवं कला की अभिन्नता की स्थापना का प्रयास किया। 'ज्योति विहग' में सौन्दर्य में कवि पन्त की सम्पूर्ण कृतियों का विवेचन है। सौन्दर्य और दर्शन लेख में सौन्दर्य की परिभाषा एवं महत्व का प्रकाशन है। 'स्मृतिपूजन' में बहिन के अंतिम निवास स्थानों को ही द्विवेदी जी ने तीर्थ मानकर परिक्रमा की।

'प्रतिष्ठान' में संस्मरण के अतिरिक्त समीक्षा और निबंधों का भी संकलन है। पर ये सभी एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। इनमें एक चिन्तनशील-सृजनशील व्यक्ति के हृदय का स्पन्दन है और अपने युग और समाज का मन्थन भी यह लेखक के अपने युग, समाज और संस्कृति के साथ गहरे जुड़ाव का परिणाम है। बाल्य स्मृति लेख आत्मचरित प्रधान संस्मरण है। 'पथ सन्धान' में देहात से नगर आने, शैशव की भाव प्रवणता से साहित्यिक बनने तथा बहिन की मृत्यु से संज्ञा शून्य होकर मर्माहत हृदय का विक्षोभ व्यक्त किया है। अपने गार्हस्थिक होने पर अर्थ के अभाव में गृहस्थ न बन सकने की पीड़ा को बताया है। यन्त्र युग की समस्याओं का निवारण ग्रामोद्योग में खोजा है। 'त्रिवेणी के अंचल में' साहित्यिक संस्मरण है जिसमें निराला, पन्त और महादेवी के सम्पर्क में आने और उनसे प्रेरणा प्राप्त करने का स्मृति लेख है। इसके प्राक्कथन में दो महायुद्धों को झेल चुके युग की स्थितियों का चित्रण करते हुए लिखा, "ऐसे ही अशिव युग में, किशोरावस्था में एक आदर्शवादी निबन्ध लेखक के रूप में, इसके बाद कवि के रूप में, तत्पश्चात् छायावाद के समीक्षक के रूप में साहित्य जगत में आया।"

द्विवेदी जी ने निराला, पन्त और महादेवी से अलग-अलग उनके परिचय और प्रभाव का बड़ा ही भावपूर्ण चित्रण किया है —

"दो चार दिन में ही निराला जी से मेरा मन क्षुब्ध हो गया। — उनसे पथ-प्रदर्शन की अपेक्षा गर्जन-तर्जन ही मिलता था। काव्य में उनका जो भैरव स्वर है वह उनके

व्यक्तित्व में विस्फोटित होकर मुझे अंकित कर देता था। प्रपात को दूर से ही देखने में सुख मिलता है, उसके प्रवाह में बह जाने से जीवन नहीं मिलता।"

निराला जी की अपेक्षा द्विवेदी जी पन्त के अधिक निकट थे। "मेरी अल्पज्ञता में भी पन्त जी मुझे अपने स्नेहोपहार से वंचित नहीं कर सके। अनुरोध करने पर अपनी 'छाया' शीर्षक कविता सुनायी।" इसी प्रकार महादेवी के संबंध में उन्होंने लिखा, "महादेवी जी में भी स्नेह है, समवेदना है, सहानुभूति है। किन्तु उनके व्यक्तित्व की किरणें घनपटल को पार कर सबको अपनी ज्योत्स्ना से पुलकित नहीं कर देती।"

"अब भी मैं इलाहाबाद जाता हूँ, किन्तु वहाँ भी सामाजिक उद्देश्य नहीं मिलता। वहाँ निराला जी भी हैं, पन्त जी भी हैं, महादेवी जी भी है। समीप होकर भी पन्त जी अपनी असमर्थता और महादेवी जी अपनी व्यस्तता के कारण बहुत दूर हैं। मेरी गति, मति, शक्ति जो भी हो सकते हैं, वे ही इस चिरदुर्बल प्राणी को लेकर निर्दय समाज में चल सकते हैं, किन्तु वे भी मुझ जैसे के दुर्भाग्य से 'जीवनमुक्त' है।" इस प्रकार इन संस्मरणों में बुझते दीपक का करुण विलाप है। साहित्यिक क्षेत्र में राजनीतिक संकीर्णता का आभास भी तब हो रहा था। युग का प्रभाव सब जगह व्याप्त था। इसीलिए सामाजिक दृष्टि से भी एकांगी ही रहे।

'स्मृतियाँ और कृतियाँ', रचना में संकलित संस्मरणात्मक लेखों में भावुकता और विचारात्मक का समन्वय है। 'स्मृति के सूत्र' निबंध में द्विवेदी जी के अपने जीवन के प्रारंभिक दिनों का स्मरण, साहित्य में अपने परिवेश और सबसे पहले निराला के निकट आने का उल्लेख है। 'मेरी परिस्थितियाँ और समस्याओं का निराला जी के जीवन से अधिक साम्य था, अतएव, आरम्भ में ही उन्हीं के निकट सम्पर्क में आया, किन्तु मुझमें उनके जैसा न तो उद्दाम पौरुष था और न प्रचण्ड स्वाभिमान। मैं निरालाजी के साथ निराला होकर नहीं चल सका।" — वे पन्त के कोमल व्यक्तित्व से आकर्षित हुए और उन्हीं के द्वारा उभरा परिचय महादेवी वर्मा से हुआ। महादेवी में उन्हें बहिन की अन्तरात्मा का बोध हुआ। बहिन की मृत्यु के बाद महादेवी जी ही उन्हें प्रोत्साहन देती थीं। पर बाद में साहित्यिक कारणों से वे उनसे रुष्ट हो गयी तथापि द्विवेदी जी उनसे विमुख नहीं हुए क्योंकि उनसे विमुख होना बहिन की स्मृति से विमुख होना था।

'प्रतिक्रिया' भावात्मक संस्मरण में द्विवेदी जी ने लिखा "कविता के स्वप्न भवन को छोड़कर खुरदरे पथ पर क्यों उतर आए। ·····'हिमानी' में हिमजल की तरह ढुलक कर मेरा काव्य स्रोत सूख गया। इसका कारण व्यक्तिगत प्रतिभा का अभाव नहीं था। ·····कारण व्यक्तिगत नहीं, सार्वजनिक था। शोषण और पीड़न ने असमय ही मुझे विरस कर दिया था।····· मेरे हृदय पर परिव्राजक पिता और मीरा की-सी साधिका बाल-विधवा बहिन की संस्कृति, कला और करुणा की छाप अनजाने ही पड़ गयी।" गाँधी जी के आदर्शवाद से भी प्रभावित हुए। स्वामी रामतीर्थ और स्वामी सत्यदेव से प्रेरणा और उत्साह प्राप्त हुआ। 'प्रभात से सन्ध्या की ओर' भावात्मक संस्मरण लेख में

अपने सौन्दर्य बोध ओर कल्पनाशीलता का परिचय दिया। इच्छा होते हुए भी किसी को अपनी जीवन संगिनी न बना सकने की पीड़ा जीवन में अन्न और अवलम्बन के अभाव से जीवन में विरसता और सूनेपन का अनुभव किया। "बाहर से घर लौटने पर, कोई पारिवारिक ममता नहीं, न बहिन का प्यार, न माता का वात्सल्य, न वधू का प्रणय, न बच्चों का आह्लाद। मेरी कुटिया सभी गार्हस्थिक संबंधों से शून्य किसी योगी की गुफा है।" अपने जीवन का साम्य द्विवेदी जी को चार्ल्स लैम्ब में मिला। "उसकी तरह मेरी भी एक-मात्र आत्मीया बहिन थी। वह दिव्या मेरे लिए पृथ्वी पर किसी देवी ज्योति की एक किरण बन कर आयी थी। उसी के प्रकाश से पूजा की आरती प्रदीप्त कर मैं संस्कृति और कला की उपासना में लवलीन रहता था।......किन्तु एक दिन अचानक ही जब वह किरण तिरोहित हो गई.....।" कुछ समय तक इन अभावों की पीड़ा संग्रस्त लेखन कार्य भी स्थगित रहा। परिवारों के विश्रृंखल होते जाने पर व्यक्ति और समाज में समवेदना के सर्वथा अभाव होने पर और अपने अन्तिम क्षणों के प्रति उन्होंने चिंता प्रकट की। 'शेष सम्पदा' लेख में मैथिलीशरण गुप्त से उनके परिचय और शेष सम्पदा के रूप में प्राप्त उनके अंतिम पत्र का उल्लेख है।

बहिन की मृत्यु के बाद उदासीन मनःस्थिति में गुप्त जी को लिखे पत्र और उनके उत्तर से उन्हें प्रेरणा मिली। 'युग संकट' लेख में निराला के व्यक्तित्व के निरालेपन का, उनकी साहित्यिक पृष्ठभूमि और जीवन यथार्थ का तुलनात्मक विवेचन है। प्रगतिशील नयी पीढ़ी के उत्क्रान्त कवि थे निराला। उनका जीवन भी अभावों में ग्रस्त रहा। अंतिम समय में अस्वस्थ थे उनका तेजस्वी मन भी जर्जर हो गया था। छायावाद के किसी भी कवि का जीवन सुखी नहीं था। इसका कारण उनकी भावुकता थी। तथा राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और वैयक्तिक दिशाओं से, युग-युग से कोई ऐसी ऐतिहासिक शून्यता चली आ रही है जिसने पुंज-पुंज पूंजीभूत होकर कवियों, बुद्धिजीवियों और जनता के जीवन को रिक्त कर दिया।

'निराला जी की प्रथम स्मृति', 'निराला जी मेरी दृष्टि में' तथा 'निराला जी जीवन और काव्य' साहित्यिक संस्मरणों में निराला जी के साथ अपने परिचय और उनके व्यक्तित्व व कृतित्व की विवेचना है। 'अनमिल आखर : पन्त जी और मैं' भी साहित्यिक संस्मरण है जिसमें पन्त के व्यक्तित्व और काव्य से आप्लावित तथा प्रेरित होने का उल्लेख है। परन्तु बाद में विचार साम्य रहते हुए भी अन्तर आ गया था। 'नेहरू जी की अंतिम स्मृति' में द्विवेदी जी ने उनसे निकट परिचय के बिना भी उनकी आत्मीयता का वर्णन किया तथा उनके साथ प्रत्यक्ष दर्शन का उल्लेख किया।

इस प्रकार द्विवेदी जी की इन संस्मरणात्मक अनुभूतिपरक कृतियों में अपनी स्मृति द्वारा अपने अतीत के उन प्रसंगों का उल्लेख किया है जो उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के नियामक थे। द्विवेदी जी ने गंभीरतापूर्वक साहित्य, सौन्दर्य शास्त्र, धर्म, काव्यशास्त्र, संस्कृति, समाज, राजनीति तथा आर्थिक स्थितियों का पर्यवलोकन ही नहीं उनका समाधान

भी प्रस्तुत किया। ये संस्मरण समकालीन संस्मरण साहित्य की सभी विशेषताओं से युक्त है। आत्म-परिचयात्मक लेखों में अपना और अपनी बहिन का जीवन परिचय दिया है। यह जीवन परिचय लेखक का कलात्मक प्रयास है। भावात्मकता और वैयक्तिकता के साथ वैचारिकता का समन्वय इन लेखों की प्रमुख विशेषता है। वैचारिकता के गुण के फलस्वरूप आधुनिक युग के दिग्भ्रमित मनुष्य जीवन के विविध पहलुओं पर अपने विचार व्यक्त किए। संस्कृति, कला एवं संगीत को जीवन में अनिवार्य मानते हैं। इसलिए गाँधी दर्शन को ही जीवन में उपयुक्त दर्शन मानते थे। विचारों के प्रतिपादन में मौलिक चिन्तन व्यक्त हुआ है। दृष्टव्य है लेख 'पथचिन्ह्' में 'पर्यवेक्षण' तथा 'अन्तःसंस्थान', 'स्मृतियाँ और कृतियाँ' संग्रह में 'युग संकट' लेख, 'प्रतिष्ठान' कृति में 'प्रकृति संस्कृति और कला'।

'युग निर्माण की दिशा' छायावाद का प्राकृतिक दर्शन 'संस्कृति की साधना', 'समकालीन साहित्य' इत्यादि लेखों में विविध विषयों पर अपने मौलिक विचारों का प्रतिपादन किया है। द्विवेदी जी ने मानव मूल्यों का निर्धारण कर जीवन में सांस्कृतिक, धार्मिक और कलात्मक संस्कारों को अनिवार्य माना है। आदर्शवाद, यथार्थवाद, छायावाद, प्रगतिवाद, गाँधीवाद और समाजवाद इत्यादि विभिन्न वादों का विवेचन-विश्लेषण किया। कवि की धारणा है कि आज यह समाज एकदम सड़ गया है जिसके भीतर चेतना पीड़ा से छटपटा रही है लेकिन भावी युग में आत्मा (छायावाद और गाँधीवाद) की अभिव्यक्तियाँ (भाव और संस्कृति) भी चेतना का प्रकाश बन कर प्रस्फुटित होती रहेगी। द्विवेदी जी ने विज्ञान की प्रगति और यन्त्र युग की विविध समस्याओं पर भी विचार किया है। मानवीय भावनाओं और कृषि से हटकर आज का मनुष्य अधिक-से-अधिक भौतिकतावादी हो गया है। जिससे जीवन में और समाज में गत्यवरोध उत्पन्न हुआ है। मनुष्य सामाजिक प्राणी न होकर आर्थिक प्राणी बन गया है। समाज के सभी वर्ग जैसे 'पूँजीवादी टाइप फाउन्डरी' में ढले हुए है। मनुष्य का सांस्कृतिक ह्रास भी हुआ है। वह दूषित, कुत्सित और असंस्कृत होता जा रहा है। आज आवश्यकता संस्कृति के पुनर्जागरण द्वारा मानव के परिष्कार की है। उसमें सांस्कृतिक चेतना के विकास की है। यह जीवन में कला और संस्कृति के प्रति मानव में अनुराग जागृत करने की है। स्वावलम्बन के लिए गाँधीवादी जीवन दर्शन और कृषि को अपनाने की है।

द्विवेदी जी के संस्मरण साहित्य में साहित्यिक संस्मरणों का विशिष्ट स्थान है। 'परिव्राजक की प्रजा' के उत्तर भाग में 'आनन्द परिवार', 'आकांक्षा के पथ पर', 'रोमाँटिक अनुभूति', 'मानसिक स्थिति', 'भावना का केन्द्रीयकरण', 'अध्ययन और अनुभव', 'छायावाद की स्थापना', 'नीरव और हिमानी', 'योगायोग' तथा 'वह सुखमय प्रवास' निबंध साहित्यिक आत्मकथात्मक संस्मरण है। 'प्रतिष्ठान' रचना में 'मिथिला की अमराइयों में' लेख यात्रा, संस्मरण और रिपोर्ताज का मिला-जुला रूप है। इसमें जनकपुर धाम की अपनी यात्रा का वर्णन करते हुए मिथिला की अमराइयों में बसी जनकनन्दिनी की पावन जन्मभूमि जनकपुर धाम की सांस्कृतिक, कलात्मक स्थितियों और प्रकृति की सुषमा का चित्रण किया है।

भावात्मक संस्मरण द्विवेदी जी की भावुक मनोवृत्ति के अनुकूल होने से इनकी संख्या सर्वाधिक है। इनमें द्विवेदी जी की आत्मनुभूतियों का प्रतिफलन हुआ है। विगत जीवन की अनुभूतियाँ और उनसे जुड़े व्यक्तियों का स्मरण और उनके प्रभाव को उन्होंने स्वीकार किया है। 'पथचिन्ह' में 'अभिशापों की परिक्रमा', निबन्ध 'परिव्राजक की प्रजा' रचना में 'स्मृति पूजन', 'स्मृतियाँ और कृतियाँ' रचना में 'प्रतिक्रिया'. 'प्रभात से सन्ध्या की ओर', 'शेष सम्पदा', 'नेहरू जी की अंतिम स्मृति' लेख भावात्मक संस्मरणात्मक निबंध है। 'अभिशापों की परिक्रमा' में अपने जीवन का परिचय आत्मकथात्मक भावात्मक शैली में दिया है। अपने शैशव और ग्रामीण प्रवेश में प्रकृति के सहज सौन्दर्य में पल्लवित अपनी भावुक कल्पनाशीलता का वर्णन किया है। 'स्मृति चिन्तन' में बहिन कल्पवती से जुड़ी स्मृतियों का अंकन है। 'प्रतिक्रिया' में युग संकट के प्रति भावात्मक प्रतिक्रिया अभिव्यक्त की है। 'प्रभात से संध्या की ओर' में अपने जीवन प्रभात सौन्दर्य और प्रेम से परिपूर्ण हृदय का जीवन की संध्या की ओर अग्रसर होने और अपने जीवन की कठोर वास्तविकताओं का चित्रण किया है। अपने निरीह जीवन की तुलना चार्ल्स लैम्ब से की है। वह भी उसी की तरह स्वप्नजीवी हो गया था। जीवन के रागात्मक सूनेपन का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। 'शेष सम्पदा' लेख में मैथिलीशरण गुप्त से परिचय और उनसे प्राप्त संवेदनात्मक पत्रों का उल्लेख है। शेष सम्पदा के रूप में केवल एक पत्र 'वासन्ती' के विशेषांक में प्रेषित एक शुभकामना पत्र है। इस तरह इन निबंधों में मर्मस्पर्शिता है। कल्पनाशील, सरल हृदय, निरावलम्ब व्यक्ति के इस समाज में जीवन पर्यन्त उपेक्षित और अपमानित किए जाने की करुण कथा है।

द्विवेदी जी का संस्मरणात्मक साहित्य सैद्धान्तिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। संस्मरण की विधा में कथात्मकता की दृष्टि से कहानी, वैचारिकता की दृष्टि से निबंध और भावात्मकता की दृष्टि से कविता — तीनों विधाओं का समन्वय हुआ है। संस्मरणों में अनुभूति, वर्णन, विवरण, विचार, भाव, यथार्थ और कल्पना सभी का संगम है। तथापि इनके संस्मरणात्मक निबंधों का मूलाधार भावना है। इसलिए काव्यात्मकता का गुण सहज-रूप से विद्यमान है। विषयगत विविधता के अनुरूप भाषा भी विविध रूपा है। संस्कृति गर्भित मिश्रित भाषा, काव्यात्मक और भाव-बहुल भाषा, लोक सामान्य की भाषा तथा आलंकारिक भाषा का प्रयोग है। इस तरह द्विवेदी जी का संस्मरण साहित्य उनकी मौलिक प्रतिभा और रचनात्मक सामर्थ्य का प्रतीक बन जाता है।

जीवन-दर्शन

शांतिप्रिय द्विवेदी निबंधकार, गद्यकार, कथाकार और कवि तो थे ही उन्होंने विपुल साहित्य की रचना भी की। उनकी रचनाओं में विशेष रूप से निबन्धों में उनका चिन्तक प्रमुख रहा। द्विवेदी जी ने देश की वर्तमान स्थिति, संस्कृति, कला, राजनीति-सामाजिक स्थिति इत्यादि पर अपने विचार प्रकट किए पर उनमें उनकी गाँधीवादी जीवन दृष्टि ही प्रमुख रही। द्विवेदी जी देश की वर्तमान स्थिति को लेकर चिंतित थे। सांस्कृतिक और नैतिक ह्रास, बढ़ते हुए भौतिकतावाद, यन्त्रीकरण, औद्योगिक सभ्यता के परिणामस्वरूप पूँजीवाद, स्वार्थ, भ्रष्टाचार, व्यापारिकता इत्यादि को लेकर वे अत्यन्त क्षुब्ध थे। उन्होंने इस स्थिति के निराकरण के लिए गाँधीवादी जीवनदर्शन को श्रेष्ठ माना। ग्रामीण व्यवस्था ही श्रेयस्कर है। इसलिए गाँवों को स्वावलम्बी बनाया जाना चाहिए। गाँवों का सारा धन शहरों में चला जाता है और गाँव उसी तरह दीन-हीन स्थिति में रहते हैं। गाँवों में धन का अभाव न हो यदि पहाड़ों पर बरसते पानी की तरह जो वहाँ ठहरता नहीं : गाँवों का धन वहीं रहें। वे चाहते थे कि गाँव 'गोकुल' बने, स्वाश्रयी, स्वावलम्बी, अरोग्य, धनधान्य से सम्पन्न और उद्योगशील तथा प्रेमल बने। द्विवेदी जी की चिन्ता थी कि मात्र राजनीतिक, आर्थिक आन्दोलन लोकजीवन की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते। सांस्कृतिक संचरण की अनिवार्यता है। इसी में सृजन और निर्माण की संभावनाएँ हैं।

गाँधी जी का लक्ष्य विश्व-मैत्री था। यही आज की त्रासद स्थिति से मुक्ति का उपाय है। जो हृदय परिवर्तन द्वारा ही संभव है न कि हिंसा द्वारा। हृदय परिवर्तन वस्तुतः अन्तःशुद्धि और आत्मपरिष्कार का मानसिक स्वरूप है जिसके बिना कोई भी कर्तव्य अन्तःप्रेरित और भीतर से अंकुरित और प्रस्फुटित नहीं हो सकता। सूक्ष्म हृदय परिवर्तन द्वारा ही स्थूल व्यावहारिक कार्यक्रम, कृषि, ग्रामोद्योग, मद्य-निषेध, अदालतों, फैसलों और अंग्रेजी शिक्षा का बहिष्कार हो सकता है। गाँधी जी के रचनात्मक कार्यों द्वारा धर्म ही अर्थ हो जाता है। सांस्कृतिक हृदय ही कर्मयोगी भी बनता है। लेकिन आज स्थिति आत्म प्रवंचना और लोक प्रवंचना की है। जिससे लोग रचनात्मक कार्यों में योग नहीं दे रहे। इसी के अभाव में आज न सार्वजनिक चेतना है, न संस्कृति, न कला, न नागरिकता। यदि कुछ है तो स्वेच्छाचारिता और आत्मतुष्टता।

द्विवेदी जी का विश्वास था कि गाँधी जी के रचनात्मक कार्यों द्वारा ही जीवन स्वावलम्बी हो सकता है। इसके लिए श्रम साधन की आवश्यकता है। वे गाँधी को राजनीतिक व्यक्ति नहीं मानते थे। गाँधीवाद की आत्मा तो सर्वोदय में, अनासक्त योग में है। इसलिए ग्रामोद्योग ही एकमात्र प्राकृतिक उपचार है। क्योंकि इससे मनुष्य का सीधा संबंध है। खादी पर गाँधी जी ने बल दिया क्योंकि खादी का स्वावलम्बन कृषि पर है। कृषि खादी का अन्तरंग और प्राण है। उसका पोषण स्वाभाविक उद्योग से हो सकता है। कृत्रिम यन्त्रों के भार से पृथ्वी को मुक्त करके उसे स्वाभाविक जीवन शक्ति दी जाए। ग्रामोद्योग से अनावश्यक उत्पादन और आर्थिक शोषण की संभावनाएँ नहीं होती। तथा मानवीय प्रवृत्तियों का स्वाभाविक विकास होता है। ग्रामोद्योग द्वारा मनुष्य में सद्वृत्तियों का विकास होता है क्योंकि मनुष्य अपने आयास प्रयासों में प्रकृतिस्थ एवं स्थितप्रज्ञ हो जाता है। अहिंसा और सत्य की स्थापना के लिए अनिवार्य है कि गाँधी जी के रचनात्मक कार्यों का प्रयोग हो और यन्त्रीकरण, उद्योगीकरण और शहरीकरण का विरोध हो।

इसलिए द्विवेदी जी का 'चित्र और चिन्तन' का नायक कमल खादी ग्रहण करता है —

'यज्ञोपवीत जिस संस्कृति का मन्त्र सूत्र है, खद्दर उस संस्कृति का अर्थसूत्र।' बिना किसी दीक्षा के भी उससे शिशु अन्तःकरण में जो सात्विक संस्कार सम्पुटित था वही स्वाति और शुक्ति की तरह इन सांस्कृतिक सूत्रों की ओर अन्तर्मुख था। अनुभवों से जब उसका संस्कार प्रस्फुटित हो गया तब उसने धर्म और अर्थ को वागर्थ की तरह सम्पृक्त रूप से (खादी में) ग्रहण कर लिया।

गाँधी जी ने भारतीय स्वाधीनता संग्राम में निःशस्त्र विजय का प्रयोग किया था और उसकी विशेषता राजनीतिक नहीं, सामाजिक और सांस्कृतिक थी। गाँधी जी की राष्ट्रीयता भारत के मौलिक व्यक्तित्व को जगाने के लिए थी। जो अपनी अहिंसा से वसुधैव कुटुम्बकम् की ओर उन्मुख थी। अहिंसा और सत्याग्रह की स्थायी सफलता के लिए अस्वाद, अपरिग्रह, अभय, अस्पृश्यता निवारण, कार्मिक श्रम, सर्वधर्म समभाव, नम्रता, स्वदेशी की प्रेरणा दी थी। यह आत्म साधना से सर्वसाधना का मार्ग है। गाँधी जी का आदर्श रामराज्य का था जिसके द्वारा वे एक नये मन और एक नये मानव का संस्कार करते हैं। यहीं पर राजनीति और विज्ञान दोनों से मानवता की मुक्ति का महापर्व होता है। आज यांत्रिक जड़ता विज्ञान की विकृति है और व्यापारिक प्रतिस्पर्धा पूँजीवाद की दुष्प्रवृति है। इसीलिए गाँधीजी साम्यवाद के लक्ष्य से सहमत थे पर वे हिंसा नहीं चाहते थे।

उनके स्वदेशी का अर्थ सिर्फ आर्थिक स्वतंत्रता और स्वराज्य भी था। मूल है गाँवों का आर्थिक स्वावलम्बन। अहिंसा और निःशस्त्रीकरण की तरह खादी और सामाजिक स्वावलम्बन एक सार्वभौमिक समस्या है। खादी तो वास्तव में एक विश्व साधना है। वास्तव में गाँधी जी का साधन और साध्य एक ही था जैसे आराधना और आराध्य।

इसीलिए उन्होंने अन्तःशुद्धि पर बल दिया था। उनका प्रत्येक कार्य अन्तःकरण का रचनात्मक कार्य होता था क्योंकि गाँधीवाद अन्तःकरण की आत्मनीति से प्रेरित था। बाध्य शासन की विवशता से प्रेरित मनुष्य कर्तव्य के प्रति आत्मनिष्ठ नहीं हो सकता। गाँधीवाद में कर्तव्य के लिए अर्न्तभूमि और आत्मनिष्ठा पहले प्रस्तुत रहती है। गाँधीजी आध्यात्मिक वैज्ञानिक थे। और पूरा जीवन उनके लिए सत्य की प्रयोगशाला थी। गाँधीवाद ने प्रगतिशीलता का तो समर्थन किया पर प्रगतिवाद का नहीं। क्योंकि गाँधीवाद में धर्म नीति प्रधान है और समाजवाद में अर्थ नीति। गाँधीवाद समाजवाद के मानव पक्ष को स्वीकार करता है और भोग पक्ष को अस्वीकार करता है। गाँधीवाद में सांस्कृतिक समाजवाद है जबकि मार्क्सवाद में वैज्ञानिक समाजवाद। गाँधीवाद की कला और संस्कृति मानवीय है। इसीलिए गाँधीवादी समाजवाद से मनुष्य का शोषण रुक सकता है।

यह जीवन दृष्टि आस्तिक और समन्वय की है। इसके आदर्श ऊर्ध्व होकर भी इनका सम्पर्क वर्तमान से और वस्तु जगत से है। बुद्ध का दर्शन जबकि विरक्ति की ओर प्रवृत करता है गाँधी दर्शन अनासक्ति की ओर। गाँधी और बुद्ध की अभिव्यक्तियों का अन्तर होते हुए भी दोनों का जीवन दर्शन मूलतः एक ही है। प्रकारान्तर से गाँधीवाद बुद्धवाद का ही युग विकास है और गाँधी की चेतना प्रकाश की अमिट रेखा है। द्विवेदी जी के अनुसार वर्तमान की समस्याओं का उपाय गाँधीवादी दर्शन में ही संभव हो सकता है।

आजकल भाषा को लेकर देश भर में विवाद है। भाषा के नाम पर संघर्ष छिड़ा है। इस संबंध में द्विवेदी जी ने गाँधी के विचारों को प्रस्तुत किया। उनके अनुसार भाषा का सम्बन्ध राजनीति से नहीं, संस्कृति से भी है और अन्तःकरण की दृष्टि से भाषा की मार्मिकता मनुष्य की संस्कारिता में है। भाषा का संबंध राजनीति से नहीं, संस्कृति से है। इसलिए राष्ट्रभाषा को जनभाषा कहा जाना चाहिए। इस रूप में राष्ट्रभाषा हिन्दी उर्दू तक ही सीमित नहीं रहेगी बल्कि अन्य प्रान्तीय भाषाओं में जो भी शब्द सुन्दर, सरल, सुबोध होगा वह भी उसमें सम्मिलित हो जाएँगें। यदि हमारे अन्तर्राष्ट्रीय संबंध है तो उसमें विदेशी शब्दों का भी समावेश होगा।

द्विवेदी जी ने माना कि जन स्वावलम्बन में ही जनशक्ति भी है। यदि प्रत्येक व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी हो जाए तो वह व्यक्तित्व के विकास के लिए हार्दिक प्रयत्न करेगा।

आजकल नगर और ग्राम दोनों का जीवन अवरुद्ध हो गया है। कृत्रिम साधनों से नगरों का जहाँ सांस्कृतिक विकास रुका है वहाँ गाँवों का विकास अशिक्षा और दरिद्रता तथा रुढ़ियों के कारण रुका हुआ है। गाँधी जी ग्रामों में आडम्बर के विरुद्ध थे। उनके अनुसार रेडियो, फिल्मों और बिजली के विकास की अपेक्षा वहाँ प्रत्येक कंठ की रागिनी और लोक-कलाओं का विकास हो। राष्ट्र की आवश्यकता है उद्योग, शिक्षा एवं संस्कृति।

सच्ची शिक्षा वह है जो साक्षरता में अंकुरित होकर सांस्कृतिक चेतना में पल्लवित और पुष्पित हो।

गाँधी जी के अनुसार श्रम साधना है और यदि हम जीवन संघर्ष में भाग न लेकर अर्थात् श्रम न करके दूसरों की मेहनत पर जीवित रहें तो वह हिंसा है। बौद्धिक और श्रमिक कर्तव्य का भी वे कोई विरोध नहीं मानते थे। श्रम पोषक है यह शरीर का ही नहीं मन मस्तिष्क का भी पोषण करता है। इसी आधार पर वे पंडित, पुरोहित, परिव्राजक, अध्यापक, कवि, कलाकार, वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ सभी को समाज के लिए भार मानते थे। श्रेणी संघर्ष के लिए वह कहते थे कि यह संघर्ष श्रेणी, श्रमिक और श्रेणी वणिक के बीच का है। इसका आधार श्रम नहीं, सम्पत्ति है। क्योंकि यह संघर्ष आर्थिक संघर्ष है। इसमें मौलिक सामाजिक चेतना नहीं है। इसलिए यह संघर्ष संकीर्ण है। श्रम व्यापारिक हो गया है। यह समस्या है। द्विवेदी जी गाँधी जी की विचारधारा द्वारा ही युग की समस्याओं का समाधान चाहते थे।

भारतीय संस्कृति के संबंध में द्विवेजी जी ने लिखा कि यह संस्कृति अतीन्द्रिय है। हमारा देश इन दिनों ऐहिक संस्कृति के सम्पर्क में भी है। पौराणिक भारतीयों की संस्कृति वैष्णवी और कलात्मक थी। जिसका परिचय हमें अपने चित्रों, मूर्तियों और दशावतार की झाँकियों से मिलता है। सम्पूर्ण कलासृष्टि आध्यात्मिक संस्कृति के प्रकाशन के लिए है। सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम के चिर उपासक होने के कारण हम लौकिक नहीं आध्यात्मिक संस्कृति द्वारा संस्कृति के पूजक हैं। हमने लौकिक संस्कृति को आध्यात्मिक संस्कृति द्वारा लोकोत्तर बनाया। हम जहाँ अपनी संस्कृति में एक कवि है वहाँ पश्चिम अपनी सभ्यता में एक वैज्ञानिक है। हम व्यक्ति के भीतर बहते रस को महत्त्व देते हैं। हम विज्ञान को लौकिक अस्तित्व भर के लिए ग्रहण करते हैं और ज्ञान को आत्मबोध के लिए तथा इसकी आत्मीयता के लिए। इन सभी आदानों में भारत का दृष्टिकोण कला को सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् रूप में देखना है।

द्विवेदी जी मानते थे कि मनुष्य के निरन्तर विकास में जीवनाधार तर्क नहीं भाव है। तर्क को वे जड़ युग का भाव मानते हैं और भाव को विकसित मानव युग का सत्य। भारत तार्किक नहीं चिरजिज्ञासु है। हमारा आशावाद जीवनी शक्ति के कारण है। हमारा आधार गार्हस्थ्य जीवन तो है पर वह हमारा सर्वस्व नहीं है। हमारा सर्वस्व तो विश्वजीवन है। गार्हस्थिक सरिताओं के रूप में हम उसी विश्व जीवन के समुद्र की ओर अग्रसर होते हैं। चाहे हम किसी भी मजबह को न माने पर हम सहानुभूति की भूमि (हृदय) में धार्मिक (समष्टिवादी) रह सकते हैं।

द्विवेदी जी के अनुसार किसी भी युग के वर्तमान का समाधान अतीत के सांस्कृतिक कोष में भी होता है। किसी भी धर्म, किसी भी कला को ग्रहण करने में हमारी संस्कृति

उदार है। यह अपने को खो देने के लिए नहीं बल्कि अपने अस्तित्व को सिन्धु विस्तार देने के लिए है। ग्राह्य शक्ति तभी आती है जब हममें अपनी संस्कृति और कला की क्षमता एक मूलधन के रूप में बनी रहती है। द्विवेदी जी ने प्रेमचन्द और शरत् दोनों के साहित्य की चर्चा करते हुए कहा कि प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में जहाँ आर्थिक भारत का चित्रण खींचा वहाँ शरत्चन्द्र का दृष्टिकोण सांस्कृतिक रहा और प्रेमचन्द का राष्ट्रीय। और दोनों का समन्वित रूप गाँधी के सांस्कृतिक राष्ट्र का दर्शन कराता है। शरत् प्राचीन संस्कृति की संरक्षण के लिए उसका नवीन आयोजन चाहते थे। वे मानते थे कि समाज में जो विकार है वह संस्कृति की विकृति नहीं, विवेकहीनता की विकृतिं है। इसके लिए समाज सुधार की आवश्यकता है न कि संस्कृति की निष्कृति की। संस्कृति के उत्थान में द्विवेदी जी ठेठ जीवन का विशेष महत्त्व मानते थे। क्योंकि ठेठ जीवन ही समाज में हमारे अतीत की संस्कृति का विरल प्रतिनिधित्व करता है। काल के प्रभाव से जब हम समाज में उस संस्कृति का दर्शन नहीं पाते तो साहित्य में उसे सुरक्षित पाकर एक कवि की भांति ही अपने मानस लोक में रस विभोर हो जाते हैं। ठेठ जीवन हमारी जातीयता का विश्वास परायण शिशु रूप है, नागरिक जीवन उसी का सर्तक प्रौढ़ रूप। दोनों एक ही संस्कृति के द्विदल हैं समाज और साहित्य में दोनों का विकास अपेक्षित है। संस्कृति ही मनुष्य के दैनंदिन जीवन को संयत और सुसंगत बनाती है। वह प्रकृति के प्राण साहचर्य में प्राण और काया को अन्वित देती है। सनातन परम्परा से हमारी सम्पूर्ण दिनचर्या ही संस्कृति में सुश्रृंखलित होती है। हम लोकाचार नहीं, आत्मीयता को चाहनेवाले हैं। सभ्यता नहीं संस्कृति (आन्तरिक कृति) को महत्त्व देते हैं। इसीलिए हमारी बुनियादी शिक्षा संस्कारिता की ही होनी चाहिए। संस्कारिता में मनुष्य की अन्तश्चेतना की साधना रहती है। संस्कारिता अन्तःकरण की वह सरस्वती है जो जीवन के प्रत्येक कृत्य में सत्य शिव और सुन्दर का समावेश कर देती है। द्विवेदी जी के अनुसार जीवन में छोटी-छोटी बातों का महत्त्व अधिक है।

मनुष्य का वास्तविक परिचय छोटी-छोटी बातों में ही मिलता है। क्योंकि बड़ी-बड़ी बातों के लिए वह अभिनय की मुद्रा तैयार कर सकता है। इन छोटी-छोटी बातों की शिक्षा घर के वातावरण से मिलती है। अन्त में हमारा सार्वजनिक जीवन भी इसी पर निर्भर करता है। संस्कारिता का संविधान सनातन धर्म में होता है। जिससे संस्कृति पूर्ण विकास पाती है। इसलिए धर्म का विवेकपूर्ण पालन व्यक्ति और समाज के कल्याण के लिए अनिवार्य है। व्यक्ति में संस्कारिता का यह संचार कलाओं द्वारा संभव है। कला का काम सिर्फ भाव-विकास नहीं बल्कि लोक जीवन का निर्माण है। किन्तु हमारी जीवन की विसंगति यह है कि कलाओं के रहते भी जनता का जीवन दैनिक सुरुचि के अभाव में अनगढ़ है। हमारे यहाँ संस्कारिता की शिक्षा नहीं दी जाती न घरों में, न समाज में और न

ही विद्यालयों में। संस्कारिता का सजीव पाठ आचरण का प्रत्यक्ष दृष्टान्त हो सकता है। वास्तव में सौन्दर्य बोध का सीधा संबंध सुरुचि से है। कला मनुष्य की रागात्मिकता वृत्ति को रसोन्मुख कर देती है। सामंजस्य जीवन को सौन्दर्य और माधुर्य से युक्त करता है। द्विवेदी जी गाँधी जी को प्रेरणा स्वरूप मानते थे। भाषा, अन्न, वस्त्र और संस्कृति ये सब अलग-अलग समस्याएँ नहीं बल्कि एक ही समस्या के रूपाकार है। जिस सहयोग और सम्यक् दृष्टि से अन्न और वस्त्र का अकाल दूर किया जा सकता है, उसी से भाषा और संस्कृति का द्वन्द्व भी। वास्तव में जीवन की समस्या का बाहरी रूप तो भौतिक है पर भीतरी रूप सांस्कृतिक ही है। आज की समस्या यह है कि दोनों ही रूप विकृत और विकट होकर प्रकट हुए हैं। बाहरी रूप अन्न-वस्त्र के अभाव में प्रकट हुआ है और भीतरी रूप धर्म्मोन्माद के कारण।

इसका निराकरण करके ही संस्कारिता की अन्तःप्रेरणा जगायी जानी चाहिए। जिससे सामाजिक चेतना का भी अन्तःप्रस्फुटन हो सके। मनुष्य को सुसंस्कृत बनाने में साहित्य और कला विशिष्ट भूमिका निभा सकते हैं। संस्कृति और कला का ही अभिन्न नाम धर्म है। संस्कृति धर्म की आत्मा है और कला उसका सगुण रूप है। कलाकार धर्म को मनोज्ञ बनाने के लिए कला द्वारा संस्कृति में भाव सौन्दर्य की स्थापना करता है। जहाँ कला का भावयोग नहीं, वहाँ धर्म में साम्प्रदायिक शुष्कता आ जाती है।

संस्कृति और कला का जन्म जनता के सामाजिक और गार्हस्थिक अस्तित्व के भीतर से हुआ था। लोकगीतों, दन्त-कथाओं, घरेलू दस्तकारियों, रस्म-रिवाजों और धार्मिक आचारों-विचारों में जनता ने आत्मनिर्माण किया था। द्विवेदी जी ने संस्कृति का संबंध प्रकृति से भी जोड़ा। उदाहरण स्वरूप उन्होंने लिखा कि गंगा जहाँ जमीन को उपजाऊ बनाकर जीवन का पोषण करती है वहाँ वह प्रकृति है। जहाँ हमारे कृतज्ञ मन का उन्नयन करती है वहाँ वह संस्कृति है। यमुना में प्रकृति और संस्कृति के साथ-साथ जीवन की एक कला सुषमा भी है। प्राकृतिक उद्यम से कृषि का प्रारंभ हुआ। और इसी प्राकृतिक उद्यम से संस्कृति की सीता का और कला की राधिका का आविर्भाव हुआ। भारत की संस्कृति, और कला को कृषि व्यवस्था के साथ जोड़कर देखा जाता है। प्रकृति, संस्कृति और कला के अभिन्न योग को गाँधी जी ने ग्रामोद्योग कहा था। उद्योग के अनुरूप ही संस्कृति और कला का भाग्य बनता है।

कला के संबंध में द्विवेदी जी ने लिखा कि कला में जीवन की अभिव्यक्ति होती है और इसी से कला की जड़ता नष्ट होती है। चेतना के कारण ही जीवन जीवन है और जीवन के कारण ही कला रसमय, सहृदय और संवेद्य है। इसलिए कला जीवन से विच्छिन्न नहीं हो सकती और अगर होती भी तो नीरव और निष्प्राण। कला यदि कला के लिए हो तो कला रुढ़िग्रस्त विकासहीन और प्रभाव रहित हो जाएगी। द्विवेदी जी ने कला

कला के लिए कहनेवालों के विचार का विश्लेषण करते हुए लिखा कि कला के लिए माननेवाले कला को स्वावलम्बी और युग विशेष की रूढ़ियों पर आश्रित न होने देने के लिए ही ऐसा कहते हैं। क्योंकि कला का विकास उसकी स्वतंत्रता में है। वास्तव में कला तो जीवन से सम्बद्ध है ही। क्योंकि कला लक्ष्य नहीं, लक्षणा है, साध्य नहीं, साधन है अभिप्रेत नहीं, अभिव्यक्ति है। क्योंकि लक्ष्य का अभिप्रेत तो अन्ततः जीवन ही हो सकता है। इसलिए जीवन में जो कुछ सत्य है, शिव है कला उसे ही सुन्दर बनाकर संसार के सामने प्रस्तुत करती है। कला कला का बाहृय कलेवर है और जीवन उसका अन्तःस्वरूप। अतः कला अभिव्यक्ति है और जीवन अभिव्यक्त।

द्विवेदी जी मानते थे कि कला की स्वतंत्रता रूढ़ि रहित होने में है। परिवर्तनों को ग्रहण करके कल्याणमयी चेतना को व्यक्त करने में है। यह तो जीवन के लिए भी वांछित है। पर जीवन की तरह कला में भी मर्यादा का आत्म स्वीकृत बन्धन रहना ही चाहिए। सुन्दरता यदि कला है तो यथार्थ उसका कलेवर है और आदर्श उसकी मंगल आत्मा। शरीर आत्मा का माध्यम है जैसे यथार्थ आदर्श का माध्यम है। इसलिए शरीर ही जीवन नहीं हो सकता। शरीर के आधार पर हम जो ग्रहण करते हैं, चरितार्थ करते हैं, वही जीवन है।

द्विवेदी जी का मानना था कि हमारे यहाँ कला यन्त्रों की कला नहीं है। वह तो मानवीय श्रम की कला है, जीवन की तन्मयता की कला है और स्वाभाविक जीवन की कला है। कला द्वारा वस्तु-जगत में भाव-जगत को ही शोभित होना है। क्योंकि वस्तु-जगत यदि शरीर है तो भाव-जगत उसका जीवन है। कला अपने में सत्य नहीं है सत्य तो जीवन है। इसलिए कला में जो कुछ सत्य है वह उसके जीवन की परछाई होने के कारण है। सर्वोच्च कलाकार वह है जो कला के कृत्रिम पट में जीवन को निर्जीव प्रतिकृतियों का निर्माण करने के बदले अस्थि-मांस की इन सजीव प्रतिमाओं में, अपने हृदय द्वारा सत्य की साँसें भर देता है। उन्हें सम्पूर्णता का सौन्दर्य प्रदान करता है। उनके हृदय प्रदीप को जीवन के प्रेम से दीप्त कर देता है।

द्विवेदी जी वर्तमान समाज में स्त्रियों की स्थिति को लेकर भी क्षुब्ध थे। सदियों की अशिक्षा ने हिन्दू नारी के हृदय में जो संकीर्णता और ढोंग उत्पन्न कर दिया है और उसी से गार्हस्थिक जीवन में अमंगल और अशांति का सृजन हुआ है। पुरुष ने अपने अहंकार से स्त्री को जड़ सम्पत्ति मात्र बनाया। आज भी नारी का मूल सम्पत्ति के मानदण्ड से बँधा हुआ है। दूसरी ओर आज की भौतिकतावादी जीवन-दृष्टि ने स्त्री को भी मात्र उपभोक्ता वस्तु बनाकर रख दिया है।

इस जड़ता से चेतना में आकर स्त्री को अपना मौलिक विकास करना होगा। युगों तक जड़ सम्पति में परिगणित होकर वह जडता को ही अपना वास्तविक जीवन समझ रही है। धर्म में और समाज ने ट्रेजेडी का सारा भार स्त्रियों पर डाल दिया। पृथ्वी की भाँति वे

सर्वसहा है। ये स्त्रियाँ पृथ्वी की कन्याएँ हैं। वे मरणात्मक वेदना को साथ लेकर चलती हैं। परन्तु नारी हृदय की वेदना ही महान करुणा और ममता बनकर पीड़ित मानवता को प्रेमामृत बनकर सम्बल दे सकती है। सम्पूर्ण सामाजिक उलझनों का सुलझाव नारी जीवन की समस्याओं के हल में ही है। पुरुष ने अपना धर्म नियम छोड़ा पर नारी अपनी साधना से विमुख नहीं हुई। द्विवेदी जी की आदर्श नारी पश्चिमी नारी नहीं बल्कि भारत की अस्मितावान मानवी है। उनका विश्वास है कि जब पुरुष जड़ता के अभिशाप से मुक्त होगा तो नारी भी होगी। नारी के सचेतन व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा पश्चिम के वैज्ञानिक नहीं कर सकते। यह कलाकार कर सकते हैं जहाँ स्त्री और पुरुष नर-नारी नहीं बल्कि अपने अन्तःकरण में मनुष्य है। इस नाते वे मानव-मानवी है और उसी व्यक्तित्व के एकत्व में समाज का कल्याण है।

द्विवेदी जी के अनुसार ऐतिहासिक युग नारी के हृदय कोमल व्यक्तित्व से वंचित होकर पुरुष की जड़ता से पाषाण युग बन गये। इन युगों की पौरुषेय सभ्यता मानसिक पक्षाघात से विकलांग है। क्योंकि उसमें जीवन की पूर्ण संस्कृति नर-नारी के सायुज्य का अभाव है। स्वयं शिव केवल पुरुष नहीं वे अर्धनारीश्वर हैं। लोक संग्रह के लिए पुरुष का पौरुष और नारी के सौहार्द्र का संयोजन ही अर्धनारीश्वर है। आज सारी समस्याओं के मूल में स्त्री की समस्या ही प्रमुख है। यह समस्या पशुता के विरुद्ध मानवता का संकेत है। इसी मानवता को हमें पाना है।

द्विवेदी जी ने जीवन में दुःख और वेदना की अनुभूति को परिष्कार का माध्यम माना। उन्होंने लिखा कि वेदना की अनुभूति से अपने क्षुद्र अहं को भूलकर राग-द्वेष से परे होकर, एक हृदय दूसरे हृदय को गले लगा लेता है। इस तरह वेदना ही विश्व की एकता की जननी है। सुख के समय मनुष्य सीमित हो जाता है उसके मन में ईर्ष्या जगती है पर दुःख में उसके मन में मनुष्य के प्रति ममता पैदा होती है। सुख तो मनुष्य अकेला भोगना चाहता है पर दुःख को सबमें बाँटकर भोगता है। हृदय की मूक वेदना से ही उत्कृष्ट कलाओं का जन्म होता आया है। वेदना ही जीवन की मूलरागिनी है। जन्म के प्रथम क्षण के स्पन्दन से ध्वनित होता है। आदि कवि वाल्मीकि के आर्द्र कण्ठ से एक शोकाश्रुबिन्दु ही एक श्लोक बनकर विश्व काव्य का प्रथम गान बन गया। यह दुःख और यह वेदना ही हमें उस करुणामय ईश्वर से मिला देती है जिसकी लीला का विस्तार यह संसार है।

इस प्रकार द्विवेदी जी ने समय, साहित्य और जीवन से जुड़े महत्त्वपूर्ण विषयों पर अपने गहन विचार प्रकट किए। इनका चिन्तन मूलतः गाँधी दर्शन से प्रभावित था। इसीलिए सभी समस्याओं का निदान भी उन्होंने गाँधीवादी साधन और साध्य की एकता, आस्तिकता, मानवतावादी जीवन-प्रणाली, सच्चरित्रता, संस्कारिता और नारी जीवन के परिष्कार इत्यादि में पाया। अपने चिन्तन में वे सुस्पष्ट, मर्यादित और अनुशासित थे।

शैली एवं बानगी

द्विवेदी जी ने अपने साहित्य में दर्शन, संस्कृति, परम्परा, आधुनिकता, ज्ञान-विज्ञान, समाज-शास्त्र तथा राजनीति के साथ साहित्य व जीवन मूल्यों का विशद विवेचन किया। उसी प्रकार भाषा व शैली की दृष्टि से भी सैद्धान्तिक, व्यावहारिक, आलांकारिक, विचारात्मक, भावात्मक, आलोचनात्क, व्यंग्यात्मक, वर्णनात्मक, आदि प्रयोग विविधता उनकी कलात्मक प्रौढ़ता के परिचायक है। द्विवेदी जी के उपन्यासों का स्वरूप समकालीन उपन्यासों से भिन्न था। उनके संस्मरणों में विषयगत वैविध्य और विस्तार के साथ आत्म व्यंजनात्मक, भावात्मक, यात्रा विवरणात्मक, निबंधात्मक और साहित्यिक इत्यादि संस्मरणों में भावना और अनुभूति की प्रधानता है और शैली की दृष्टि से काव्यात्मक है। द्विवेदी जी की काव्य-रचनाओं में उनकी सहजता, सरलता, जिज्ञासा, भावुकता, उत्कंठा के साथ-साथ मानवीय भावनाओं की भी अभिव्यक्ति हुई है। द्विवेदी जी की रचनाओं से संकलित कुछ उद्धरणों को प्रस्तुत करके उनके लेखन और भाषा शैली से साक्षात्कार का प्रयास किया गया है —

संस्मरणात्मक लेखन—आत्मव्यंजनात्मक शैली

"एक-दो-तीन, मैं दर्जा-पर-दर्जा चढ़ने लगा। किन्तु घरेलू स्थिति में अन्तर नहीं पड़ा। शासन तो था ही; पोषण का यह हाल था कि दोपहर में नाममात्र का दाना मिलता था, रात में भूख से आँख में आँसू आ जाते, सबके खा लेने पर अन्त में बाबा की थाल में ही कुछ रूखा-सूखा खा लेता। बदन पर पहनने के लिए एक साबूत कपड़ा नहीं, चिथड़े-जैसी धोती में पचासों गाँठ लगाकर पहनता था। किसी निरंकुश नृपति के शासन में जनता की जो दीन-हीन हालत होती है, वही मेरी भी थी। जीजी भी क्या करतीं, वह भी तो पराधीन थी।

ऐसी ही स्थिति में एक दिन काशी से घूमते-फिरते पिताजी आ गये। वे गाँव जा रहे थे। जीजी ने उनके चरणों को पकड़कर बहुत क्रन्दन किया। मुँह से कुछ न कह कर भी आँसुओं में अपना जीवन उंड़ेल दिया। मैं मौन रहा। न रोया, न हँसा। अपनी पहुँच के बाहर का समझ कर यह बालहंस उस परमहंस से हिल नहीं सका। झाड़-झँखाड़ की तरह

उनके बढ़े हुए बालों और दाढ़ी को देखकर मुझे घिन्न लगता था। मैं अपनी ही तरह चिकना-मुकना मुख देखना चाहता था। कुएँ पर जब लोटा-डोरी लेकर पानी भर रहा था तब मेरा भार हलका करने के लिए वे भी वहीं बढ़ आये। मैंने अपनी क्षमता दिखलाने के लिए उदासीनता से उन्हें बरज दिया। जिस अंशुधर का मैं अंश था, उसमें समा नहीं सका। पिता-पुत्र का यह कैसा अनमिल मिलन था ! दूसरे दिन वे चले गये।

कुछ दिनों बाद देहात में किसी गुसाईं की कुटिया पर उनका देहान्त हो गया। घर के बगल के एक शोहदे ने व्यंग्य से कहा—तुम्हारे बपई चल बसे ! मानो मेरे पिता भी मेरी ही तरह नगण्य थे। तब मैं क्या जानता था, मरण एक चिरबिछोह है। मैंने उस दुःसंवाद की गम्भीरता का अनुभव नहीं किया। चुप रह गया।

अभावों में भी शैशव का सरल मन अपने भाव-जगत में विहार करता था। जीजा के भय से यद्यपि लड़कों के साथ खेलते समय सहमा-सहमा रहता था तथापि नैसर्गिक इच्छाओं की तरह मैं अपनी क्रीड़ा-प्रियता को भी रोक नहीं पाता था। शहर का चिर-परिचित पतंग ही यहाँ भी हाथ में आ गया। मेरी ही तरह वह भी हल्का-फुल्का रंगीन था। उसी के समय मैं भी आसमान में उड़ पड़ता।

पतंग को शहर की बोली में मैं 'गुड्डी' कहता। 'गुड्डी' क्या उड्डीन का अपभ्रंश है ? लड़कों ने चिढ़ाने के लिए मेरा नाम भी गुड्डी रख दिया। बड़ों ने दुलराने के लिए 'गुड़िया' कहना शुरू कर दिया।

मदरसे में लड़के मुझे अपनी पंक्ति में नहीं बैठाना चाहते थे। एक तो मेरे कान बहते रहते, दूसरे मेरे मुख पर ऐसा टूअरपन, ऐसा सूनापन छाया रहता कि वे मेरे साथ बैठने में अपनी हेठी समझते।

लड़कों से बहिष्कृत और घर से तिरस्कृत मेरा मन एकान्तवादी हो गया। मदरसे से लौटने पर घर के बाहर दीवाल से सट कर अपनी किताब में पढ़ी कविताओं को करुण स्वर से गुनगुनाने लगता। उन दिनों तीसरे चौथे दर्जे में 'हिन्दी-प्रवेशिका' पढ़ाई जाती थी। उसमें द्विवेदी-युग के सभी लेखकों और कवियों की कुछ सुन्दर रचनाएँ संगृहीत थीं। मदरसे के हेडमास्टर मुन्शी कन्हैयालाल उसे पढ़ाते थे। वे यथानाम तथागुण थे, अपनी सज-धज में कृष्ण कन्हैया ही थे, सरस और सुरुचिपूर्ण स्वभाव के बुजुर्ग थे। चुलबुले थे, लड़कों से बड़े गोइयाँ की तरह पेश आते थे। उनके अनुशासन में पिता का शुभचिन्तक हृदय था। कविताओं को वे लय के साथ और लेखों को देश-काल की जानकारी के साथ पढ़ाया करते थे। अपने एकान्त की गुनगुनाहट में मैं उन्हीं के कण्ठस्वर का अनुसरण करता था।"[1]

---

1. 'अन्तः प्रस्फुटन और वातावरण' — परिव्राजक की प्रजा, पृ. 60-61

"तृण का आधार और संसार बसाने के लिए घर-द्वार नहीं होने के कारण हिन्दी के कई प्रतिभाशाली कवि अविवाहित रह गये। 'नवीन' जी अपने को अनिकेतन कहा करते थे, किन्तु विवश होकर वृद्धावस्था में जब वे गृहस्थ हो गये तब उनके जीवन की क्या परिणति हुई ?...

घर-द्वार बसाने की बात तो दूर, मैंने तृण का अनिवार्य आधार भी नहीं पाया। तब उसका भी महत्त्व नहीं समझता था। कहा जाता है, अन्न ही प्राण है, जीवन की इस प्राथमिक, प्राकृतिक आवश्यकता की ओर भी ध्यान नहीं दे सका। श्वास-वायु से ही जीता रहा। कोमल कुसुम कमल की तरह पार्थिव तल से उस मिट्टी का आधार नहीं ले सका जिससे सृष्टि अंकुरित होती है। मैं केवल हवा, पानी और रोशनी से ही जीता रहा, मेरा शरीर कमल-नाल से भी अधिक निर्बल रह गया। वायव्य जगत में ही साँस लेते-लेते मेरा जीवन भी वैसा ही हो गया।

अन्न और घर-द्वार का लोभ न होते हुए भी मुझे जीवन विरस जान पड़ने लगा, मनोराग को किसी आत्मीयता का अवलम्ब नहीं मिलने के कारण मैं सूनेपन का अनुभव करने लगा। अपने एकरस एकाकी जीवन के प्रति स्वयं ही संवेदनशील होकर आज से पन्द्रह वर्ष पहले मैंने अनुभव किया — बाहर से घर लौटने पर कोई पारिवारिक ममता नहीं, न बहिन का प्यार, न माता का वात्सल्य, न वधू का प्रणय, न बच्चों का आह्लाद। मेरी कुटिया सभी गार्हस्थिक सम्बन्धों से शून्य किसी योगी की गुफा है।

मुझे अपने जीवन का साम्य चार्ल्स लैम्ब में मिला। उसकी तरह ही मेरी भी एकमात्र आत्मीया बहिन थी। वह दिव्या मेरे लिए पृथ्वी पर किसी दैवी ज्योति की एक किरण बन कर आयी थी। उसी के प्रकाश से पूजा की आरती प्रदीप्त कर मैं संस्कृति और कला की उपासना में लवलीन रहता था। इतना आत्मनिमग्न रहता था कि उसकी ओर ध्यान नहीं दे सका — (प्रकाश के सुलभ रहते कौन उसकी ओर ध्यान देता है !) — किन्तु एक दिन अचानक ही जब वह किरण तिरोहित हो गयी, तब मैं उस शिशु की तरह ही वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ रह गया जो यह नहीं जानता कि उसका क्या खो गया ? याद आने पर अपने को एकांकी पाकर किसी की ममता पाने के लिए अनाथ बालक जब उत्कण्ठित हो उठता है तब चारों ओर जैसे सूनेपन का अनुभव करने लगता है वैसे ही मैं भी सूनेपन का अनुभव करने लगा।

कहते हैं, चार्ल्स लैम्ब ने अपने मन को रमाने के लिए एक कल्पित परिवार बना लिया था। उसके इस परिवार में गृहिणी भी थी और उसकी सन्तानें भी थीं। अपने व्यक्तिगत लेखों में उसने उनका इस तरह उल्लेख किया मानो वे काल्पनिक नहीं, वास्तविक हैं। मेरे मन में भी दाम्पत्य की जो सुप्त लालसा थी वह कभी-कभी स्वप्न में जागकर गृहसुख पा जाती थी। एक बार स्वप्न में राह चलते अनुभव किया – जीवन-पथ कितना मधुर है कि

घर में गृहिणी है और स्वर्ग से भी अधिक सुखद उनका स्नेह-सौहार्द मुझे आप्यायित कर देने के लिए सौरभ की तरह बगर रहा है।

एक स्वप्न में मैंने अपने पुत्र को भी देखा। खेलते-खेलते वह कहीं चला गया था, मानो मेरा कलेजा ही चला गया था। कहाँ गया ? मैं विकल होकर उसे खोजने लगा। अचानक वह एक प्राचीर के बारजे पर किसी छरहरे बिरवा की तरह खड़ा अग-जग की झाँकी लेता दिखायी पड़ा — दूधिया चप्पल, सफेद चूड़ीदार पाजामा, सफेद कुरता और मस्तक पर दूज के चाँद-सी बाँकी गाँधी-टोपी पहने वह शरदकुमार-सा जान पड़ा।

...स्वप्न की गृहिणी और पुत्र तो स्वप्न में ही विलीन हो गये, फिर न तो स्वप्न में आये, न जीवन में। हाँ, स्वप्नों में बहिन के दर्शन प्रायः होते रहते हैं। उसे स्वप्न में पाकर मेरे लिए अपने वर्तमान का अस्तित्व लुप्त हो जाता है, मुझे वह अतीत मिल जाता है जब बहिन के सान्निध्य में मैं निश्चिन्त और जीवन्त रहता था, जैसे माँ के आँचल की छाया में शिशु।

...कुछ क्षण, केवल कुछ क्षण, अपनी झलक देकर वह बहिन भी कहाँ विलुप्त हो जाती है ! क्या वह भी स्वप्नमात्र थी ? नहीं, वह तो कभी इहलोक में प्रत्यक्ष थी। जब वह सदा के लिए संसार से ओझल हो गयी तब उसकी स्मृति को ही अपनी संजीवनी शक्ति बनाकर जीवन-पथ पर पूर्ववत् चलता रहा।

जीवन में रागात्मक सूनापन होते हुए भी बहन की स्मृति से वह उभरने नहीं पाता था, भीतर-ही-भीतर एक सहिष्णु साधना जगाता था। सूनापन और स्मृति तो एक ही जैसी मनःस्थिति हैं, किन्तु बहिन की स्मृति में संस्कृति और कला का जो सात्विक लालित्य था वह मेरे जन्मजात हार्दिक संस्कारों को आस्था और भाव से ओत-प्रोत रखता था — (कदाचित् अब भी वह लालित्य मुझमें अंशतः शेष है, इसीलिए मेरी भाषा सर्वथा शुष्क गद्य नहीं हो गयी)। युग-परिवर्तन में भी मैं साहित्य में भावात्मक स्पन्दन देता रहा।

...सूनापन तो नहीं उभरता था किन्तु वास्तविक संसार में कहीं से कोई सामाजिक सम्बल (सहयोग) नहीं मिलने के कारण मैं अनुभव करने लगा — 'कितना अकेला आज मैं।' फिर भी ऋतुओं की तरह युग के स्पर्शों से प्रभावित होते हुए भी मैं आत्मविस्मृत नहीं हो गया, मुझमें जीवन का तरुण आकर्षण बना हुआ था। वय का मध्यान्ह् (पचास वर्ष) पार कर जाने पर भी बुढ़ापा नहीं मालूम पड़ता था, अभावों से शुष्क अपने कुरूप कण्टकित मुख को शीशे में देखकर मैं किसी नटखट शिशु की तरह मुँह बिचकाकर बुढ़ापे को (अपनी वयस्कता को) चिढ़ाया करता था, मानो मैं यह नहीं, कोई और हूँ।

...जन्म-मरण से परिहास कर, काल से आँख-मिचौनी खेलकर, पहिले की ही तरह समाधिस्थ होकर मैं साहित्यिक कार्य करता रहा। मेरे अनजाने वर्ष पर वर्ष बीतते चले

गये, देखते-देखते जीवन का अपरान्ह् आ गया। यह क्या ! अब मुझमें वह उत्साह नहीं रहा, जीवन में निराशा आ गयी। ओह, युग कहाँ से कहाँ चला गया ! जीवन का प्रत्येक क्षेत्र व्यावसायिक हो गया, साहित्य-क्षेत्र भी व्यावसायिक बिडम्बना में पड़ गया। अब पाठकों और विद्यालयों में साहित्य की वह प्रतिष्ठा नहीं रही जो विद्यानुरागी स्वाध्यायियों के युग में थी। चाट और सिनेमा का शौक़ीन पाठक चटपटी और सनसनीदार किताबें पसन्द करता है और छात्र साहित्य के नाम पर केवल पाठ्य पुस्तक उलट-पुलट कर येन-केन-प्रकारेण उतीर्ण हो जाना चाहता है। मौक़ा पाकर वह भी अध्यापक और प्राध्यापक हो जाता है। न अध्ययन है, न मौलिक विकास के लिए मनन-चिन्तन। कितने खेद की बात है कि विश्वविद्यालयों में भी सृजनात्मक साहित्य का प्रचार-संचार अवरुद्ध हो गया है, वाग्देवी का दम घुटने लगा है।

एक लम्बी अवधि तक साहित्य-क्षेत्र में सक्रिय रहने के बाद मेरे सामने यह प्रश्न आ उपस्थित हुआ कि अब क्या लिखूँ, किसके लिए लिखूँ? चटपटी किताबें मैं लिख नहीं सकता और न पाठ्यक्रम के लिए टकसाली पुस्तकें ही लिख सकता हूँ। स्वान्तः सुखाय लिखूँ भी तो क्या लिखूँ? तुलसीदास का युग तो रहा नहीं। वर्तमान आर्थिक युग में स्वान्तः सुखाय रचना भी व्यावसायिक हो गयी है। कथावाचक रामायण से रोजी कमाने लगे हैं। ऐसे उदरम्भरि युग में मैं लेखन-कार्य से उदासीन हो गया। वर्षों से कुछ नहीं लिख सका। लेखन-कार्य ऐसा ठप हो गया कि जान ही नहीं पड़ता, कभी मैं भी साहित्य-क्षेत्र में था भी या नहीं। मुझे अपनी इस स्थिति से भीतर ही भीतर बड़ी ग्लानि है। मैं अपनी व्यथा किससे कहूँ, कैसे कहूँ !...एक बार स्वप्न में मिले। अपने ताम्बूलरंजित ओठों से मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए हाथों के परिणाम-संकेत से उन्होंने इंगित किया — अरे, तुमने इतना कुछ लिखा !..."[1]

"इसी तरह के अटपटे प्रसंगों में अपनी अपटुता से पन्त जी को अप्रसन्न कर दिया। उनके स्वभाव की भी एक अपनी स्वर-लिपि है। वह अपने ही सरगम में ठीक से बजता है।

मेरी अल्पज्ञता में भी पन्त जी मुझे अपने स्नेहोपहार से वंचित नहीं कर सके। अनुरोध करने पर उन्होंने अपनी 'छाया' शीर्षक कविता सुनाई थी। अहा, उनके स्वर में कैसी सरलता-मधुरता-मोहकता थी ! मानों कोई अबोध विहग-बालिका पिहक रही हो।

पन्त के उसी कण्ठस्वर का उपहार लेकर जब मैं काशी आया तब मुग्ध भी था, रुष्ट भी था। मुग्ध था उनके व्यक्तित्व पर, रुष्ट था उनके विरल स्वभाव पर। तब मैं क्या जानता था कि उनके इसी विरल स्वभाव से उनका व्यक्तित्व बना है। 'पल्लव' की आरम्भिक भूमिका ('विज्ञापन') में पन्त जी ने लिखा है – 'अन्त में व्याकरण से अपनी

---

1. 'प्रभात से संध्या की ओर'—'स्मृतियाँ और कृतियाँ', पृ. 20-22

'आइडिओसिनक्रेसी'(स्वभाव-वैषम्य) के लिए क्षमा-प्रार्थना कर विदा होता हूँ।" — प्रचलित प्रणालियों से सर्वथा भिन्न पन्त के इसी स्वभाव-वैषम्य (वैशिष्ट्य) में उनके काव्य और व्यक्तित्व का मौलिक सौन्दर्य है।

उस समय तो मुझे ऐसा जान पड़ा कि काव्य में आत्मैक्य होते हुए भी मुझमें और पन्त जी में बहुत सामाजिक वैषम्य है। सामाजिक दृष्टि से मुझे निराला जी अधिक निकट जान पड़े।...

'परिचय' प्रकाशित होने पर जब मैंने उसे निराला जी के पास भेजा, तब उन्होंने मेरी भाषा की प्रशंसा की। (मेरी भाषा पर पन्त का प्रभाव पड़ चुका था)।

कुछ दिन बाद ही (सन् '27 में) निराला जी कलकत्ते से अचानक बनारस आ गये। आते ही उन्होंने सबसे पहले मुझे खोज निकाला।

इस बार निराला जी का व्यवहार बदला हुआ था। कलकत्ते से वे रुग्ण और अभावग्रस्त होकर आये थे। शारीरिक और आर्थिक कष्ट से पीड़ित होकर मेरे प्रति मृदु हो गये थे। काशी में मैं ही उनका स्वयंसेवक बना। मेरे ही माध्यम से प्रसाद जी से उनका परिचय और अन्य साहित्यिकों से सम्मिलन हुआ।

शारीरिक और आर्थिक कष्ट के अतिरिक्त, निराला जी कलकत्ते से साहित्यिक असन्तोष भी ले आये थे। पन्त का 'पल्लव' प्रकाशित हो चुका था। अपने मुक्तछन्द की आलोचना देख कर निराला जी पन्त से बहुत नाराज थे। इसी का परिणाम 'पन्त और पल्लव' शीर्षक उनका वृहत् लेख बना। प्रसाद जी ने भी उसे लिखने के लिए उन्हें प्रोत्साहित किया था। — (आज इतने दिनों बाद वह लेख असामयिक हो गया है)।

सन् '30 में स्वस्थ होकर पन्त जी जब पुनः प्रयाग आये, तब कालाकांकर चले गये। वहीं रहने लगे। उनसे बराबर भेंट होती रही। स्वभाव, जीवन और सामाजिक स्थिति में वैषम्य होते हुए भी मानसिक सतह (साहित्यिक सतह) पर मैं पन्त से घनिष्ठ होता गया। व्यक्तिगत रूप से मैं उनसे कभी सन्तुष्ट नहीं हो सका। प्रयाग की पहली भेंट में जिस तरह मेरी अयोग्यता (स्वल्प शिक्षा) और वधिरता के कारण हम लोगों के बीच एक व्यवधान बना हुआ था, वह दूर नहीं हो सका। यह व्यवधान ऐसा नहीं था जिसे स्नेह, सहानुभूति और सहयोग से दूर नहीं किया जा सकता।"[1]

"इधर गाँव में मैं निठल्ला घूम रहा था, उधर काशी में बहिन तपस्या कर रही थी। वहाँ न तो खेती थी, न अमराई; केवल जाह्नवी अपनी पवित्र धारा से जीवन को सींच रही थी।

---

1. 'त्रिवेणी के अचंल में'—प्रतिष्ठान, पृ. 6-8

देहात से काशी लौटने पर माँ के बिना सूने घर में बहिन ने जब फिर अपने जीवन का प्रारम्भ किया होगा तब रह-रह कर उसका हृदय कितना कसक उठता रहा होगा। वैधव्य का दुःख उसने जाना नहीं, किन्तु माँ का अभाव वह भूल नहीं सकी। अपनी साँस-साँस में उसी की स्मृति सँजोती हुई वह जीवन की सजल साधना में लीन हो गयी।

बहिन ने पिता से तापस-संस्कार पाया था, माँ से वात्सल्य और गृह-नैपुण्य, अपनी सुकुमार वय से कलानुराग। वैष्णव-काव्य की तरह ही उसने अपनी सुरुचि से धार्मिक शुचिता को भी कला की रुचिरता प्रदान कर दी थी। सामाजिक दृष्टि से वह व्रतवती बालविधवा थी। उसका सतीत्व किसी व्यक्ति में संकुचित न होकर सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् में समाविष्ट हो गया था। पिता के बनवास और माँ के गोलोकवास के कारण जब जीवन में वह अकेली पड़ गयी तब भव-सागर में श्रीतुलसीकृत रामायण उसकी नौका बन गयी। उसी में से वह अपनी समस्याओं का समाधान पा लेती थी।

बहिन उषा की तरह तेजस्विनी थी। वह किसी के दया-दाक्षिण्य पर निर्भर नहीं रहना चाहती थी। कौमार्य्य की पवित्रता और सुन्दरता के अनुरूप ही उसने जीवन-यापन का एक कलात्मक साधन अपना लिया था। उन दिनों बड़े घरों में शौक़ के तौर पर कई दस्तकारियाँ प्रचलित थीं। साड़ी के किनारों पर टाँकने के लिए गोटे बुनना भी एक शौक़ था। बहिन ने इसे शायद मुहल्ले के अग्रवाल घरों की बहुओं से सीख लिया था। उस समय माँ जीवित थी।

गोटे की बुनावट में बहिन अपने ही जीवन को एक सुवर्ण शिल्प के रूप में बुन रही थी। प्रारम्भ में उसने भी गोटा बुनना अन्य दस्तकारियों की तरह शौक़ के रूप में ही शुरू किया होगा, बाद में वही उसकी आजीविका का भी आधार वैसे ही बन गया जैसे मेरा स्वान्तःसुखाय साहित्य।

गोटा बुनना बिना पूँजी का परिश्रम था, शायद इसीलिए बहिन ने उसे स्वीकार कर लिया था। दूकानदार सुनहले लच्छे दे जाता, तैयार होने पर मजदूरी देकर गोटा ले जाता। गोटे की बुनावट में मिहनत बहुत पड़ती थी, बहिन दिन-रात घंटों पाढ़े पर बैठी उसे बुनती रहती, उसका मृणाल-तन्तु-जैसा सुकोमल शरीर थक जाता, तेल की बाती की तरह आँखों की शक्ति भी चुक जाती, किन्तु अलसाने-सुस्ताने से जिन्दगी भला कैसे चल सकती थी ! मिहनत के हिसाब से यद्यपि मजदूरी बहुत कम मिलती थी किन्तु बहिन उसी में धर्म और कला की मर्यादा का निर्वाह कर लेती थी।

जिस साधना की वह साध्वी थी, उसके उत्तराधिकार से मुझे कैसे वंचित रख सकती थी ! देहात के प्राकृतिक वातावरण से उसने फिर मुझे अपने सांस्कृतिक वायुमण्डल में बुला लिया।"[1]

---

1. 'साधना की साध्वी' — 'परिव्राजक की प्रजा', पृ. सं. 29

निबंध लेखन-शास्त्रीय आलोचनात्मक शैली —

सूरदास पार्थिव अध्यात्म के कवि हैं। देह में देही की तरह उन्होंने पृथ्वी के मृण्मय आकार में रसोडमृतम् को उपलब्ध किया है। इस प्रकार वे लौकिक और अलौकिक कवि हैं। उनका सूरसागर पृथ्वी के आयतन में भी है और उससे निर्लिप्त भी, जलाशय में जल की तरह।

लौकिक दृष्टि से सूरदास कवि हैं। उनके पारिवारिक जगत में यशोदा और नन्द का वात्सल्य है। ऊधो और गोपकुमारों का सखा भाव है, राधा और गोपियों का दाम्पत्य है। इन रसों और भावों में सूरदास का मन चैतन्य है, वे चित की चकई को उसी ओर प्रेरित करते हैं जहाँ अहर्निश संयोग का सुख है —

चकई री, चलि चरन-सरोवर
जहाँ न प्रेम-वियोग।

इस तरह सूरदास के लौकिक भाव अलौकिक पुरुष के लिए पादार्घ्य हैं।

हिन्दूधर्म में जीवन पग-पग पर एक पूजन है : गो-पूजन, हलबैल का पूजन, नवान्न का पूजन, नये गृह-वापी के निर्माण पर पूजन, नये कलश की स्थापना के समय पूजन। यहाँ तक कि इस शरीर की अशिवता दूर करने के लिए षोड़श संस्कार हैं। जीवन में जो कुछ उपयोग्य और उपभोग्य है उन सबके भूत-त्व के परिहार और अमृत्व के संचार के लिए पूजन है।

पूजन-पूर्वक जीवन भगवत्प्रसाद के रूप में अंगीकृत हो जाता है। वैष्णव-काव्य का भाव-पूजन उसी भगवत्प्रसाद के लिए है। सूरदास भागवत कवि हैं।

रस और कला

यद्यपि सूरदास श्रृंगार रस के भी उत्कृष्ट कवि हैं तथापि उनका कवित्व वात्सल्यरस में ही बेजोड़ है। उनके काव्य में सरल शैशव की सजीव चित्रशाला है। उसमें रमकर मनुष्य फिर से शुभ जन्म पा जाता है।

सगुण-उपन्यास में सौन्दर्य ही प्रेम का आधार है। तुलसीदासजी ने सीता और राम दोनों का सौन्दर्य-वर्णन किया है, किन्तु सूरदास ने मुख्यतः कृष्ण का ही सौन्दर्य अंकित किया, क्योंकि वात्सल्य के कारण श्रीकृष्ण ही उनके प्रभु हैं। कृष्ण की बालछवि देखिये —

छोटी-छोटी गुड़ियाँ अंगुरियाँ छोटी,
छबीली नख-जोति मोती मानों कंजदलन पर।
ललित आँगन खेलैं ठुमुक-ठुमुक डोलैं
झुनुक-झुनुक बाजैं पैंजनी मृदु मुखर।। [1]

निबंध लेखन — सैद्धांतिक आलोचनात्मक शैली

रस — प्रकृति और पुरुष, उस 'कविर्मनीषी परिभूःस्वयम्भूः' के विश्वकाव्य के दो तार हैं। इन्हीं को बजाकर उसने लोकजीवन को नाना स्रोतों में प्रवाहित किया है। सुख-दुःख, मिलन-विरह के युगल पुलिनों को छूकर जीवन के स्रोत उसी परम कवि के चरणों का प्रक्षालन करने के लिए ऋजु-कुंचित गति से अविरत बह रहे हैं। इस सम्पूर्ण लोक-काव्य (जीवन) का लक्ष्य फिर उसी कविर्मनीषी में लय होने जाने का है।

काव्य का आदिरस है श्रृंगार, जिसकी परिपूर्णता भक्ति में है। प्राणियों के बीच एक दिन हृदय का आकर्षण ही अनेकता में एकता का बोध कराने का प्रथम साधक हुआ था, वही आकर्षण श्रृंगार के माधुर्य में घनीभूत हो गया। श्रृंगार में विरह की भाँति ही, जीवन में वेदना का स्थान अधिक गम्भीर है। अपनी सुख-सुषमा में तो हृदय एक परितृप्त विह्वलता में प्रायः मौन हो जाता है, यथा मधु-गन्ध-तृप्त मधुकर —

"अपने मधु में लिपटा कर,
कर सकता मधुप न गुंजन!"

किन्तु हृदय के विदीर्ण होने पर प्रेम की मूर्तिमयी आत्मा रवि ठाकुर के शब्दों में बोल उठती है —

बाँसिरि ध्वनि तुह अमिय गरल रे,
हृदय विदारयि हृदय हरल रे,
आकुल काकलि भुवन भरल रे,
उतल प्राण उतरोय।
को तुहुँ बोलबि मोय!
हेरि हास तव मधुरऋतु धाओल,
शुनयि बाँशि तब पिककुल गाओल,
विकल भ्रमर सम त्रिभुवन आओल,
चरण कमल जुग छोय।
को तुहुँ बोलवि मोय!

---

1. 'सूरदास की काव्य साधना' — धरातल, पृ. 112-113

अतः भाव तो अभावमय जीवन के भीतर से ही, विरहोद्गार की भाँति प्राणों को विदीर्ण करके बाहर निकल पड़ते हैं। इसीलिए कवि के उच्छ्वसित हृदय ने कहा है —

"वियोगी होगा पहिला कवि,
आह से उपजा होगा गान;
उमड़कर आँखों से चुपचाप,
वही होगी कविता अनजान।"

शृंगार और भक्ति के साथ ही शान्त, करुण और वात्सल्य भी मानव-हृदय के कोमल रस हैं। इन्हीं सहज रसों से सुस्निग्ध होकर मनुष्यता का सुन्दर रूप पूर्णचन्द्र की भाँति प्रस्फुटित होता है। इनके अतिरिक्त और भी रस हैं — रौद्र, वीभत्स, भयानक। ये मनुष्य के भीतर अवशेष पाशव-अंश के सूचक हैं। इनकी सार्थकता यह है कि ये अपनी उत्कटता से मनुष्य को कोमल रसों के लिए लालायित कर देते हैं।

शब्द और छन्द — वस्तु-जगत् में मनुष्य नाना व्यापारों में तत्पर होकर लोक-चतुर प्राणी बन जाता है। किन्तु साहित्य में आते ही वह पुनः भावुक हो जाता है, यहाँ उसे अपना खोया हुआ चिर-परिचित हृदय मिलता है। काव्य में उसी मनुष्य हृदय का शिशु-सुलभ भोलापन बहुत कुछ सुरक्षित रहता है। कविवर रवीन्द्रनाथ कहते हैं — "वयोवृद्धि के होते हुए भी कभी-कभी मनुष्य के भीतर किसी गुप्त छायामय स्थान में बालक अंश बचा रह जाता है। छन्दप्रियता, ध्वनिप्रियता, वही गुप्त स्वभाव है। हम लोगों का वयोवृद्धि अंश भाव चाहता है, हम लोगों का अपरिणत अंश (शिशु-अंश) ध्वनि और छन्द प्रदान करता है। मनुष्य के इस नाबालिग अंश के कारण ही संसार में थोड़ी-बहुत मधुरता है।"

जिस प्रकार सुन्दर अक्षरों के लिए अच्छी निब चाहिए, उसी प्रकार समुचित भाव के लिए समुचित शब्द चाहिए — अनुपयुक्त शब्द भाव को बेडौल कर देते हैं। एक समान अर्थबोधक अनेक पर्यायवाची शब्दों के भीतर से भाव के यथायोग्य शब्द का चुनाव कर लेना, उचित स्थान पर उचित व्यक्ति की नियुक्ति की भाँति ही शोभन जान पड़ता है।

संगीत में जो काम ताल का है, काव्य में वही काम छन्द का। शब्द यदि भावों में साँस भरते हैं तो छन्द भावों को गति देते हैं। किस रस के लिए किस गति की और किस गति के लिए किस छन्द की उपयुक्तता है, इसके लिए रसविदग्धता चाहिए, तभी छन्दों का रसानुकूल निर्वाह हो सकता है।

काव्य में रस का वही स्थान है जो पुष्प में गंध का। जिस प्रकार विभिन्न सौरभ पुष्पों में अपने अनुरूप आवास पाते हैं, उसी प्रकार विभिन्न छन्द विभिन्न रसों के लिए पुष्प का प्रतिनिधित्व करते हैं। शब्द से लेकर रस तक काव्य में प्रवाह की एक लड़ी-सी बँधी रहती है — शब्द छन्द को अग्रसर करते हैं, छन्द भाव को और भाव रस को।

चित्र, संगीत और अलंकार — लोक-दृश्य काव्य में चित्र-निर्माण का काम करते हैं। काव्य को छन्द यदि संगीत-कला के निकट ले जाता है तो दृश्य चित्रकला के समीप। इस प्रकार काव्य को संगीत द्वारा रस और चित्र द्वारा रूप प्राप्त होता है। चित्र में नेत्रों का नीरव-संगीत है, संगीत में मन का मुखर-चित्र। नेत्रों से जो दिखाई पड़ता है, उसे मन देखना चाहता है; मन जिसकी कल्पना करता है, उसे नेत्र देखना चाहते हैं। भावों के इसी काव्य जगत् में —

"गिरा हो जाती है सनयन,
नयन करते नीरव भाषण।
श्रवण तक आ जाता है मन,
स्वयं मन करता बात श्रवण।"

किन्तु काव्य की पूर्णता केवल चित्र और संगीत के योग तक ही सीमित नहीं। शरीर और आत्मा से संयोजित-प्राणी जिस प्रकार अपने आप में पूर्ण होकर भी अपूर्ण रहता है, उसी प्रकार चित्र और संगीत से सम्बद्ध काव्य भी। काव्य अपने मुक्त भावना क्षेत्र में, क्षण-क्षण जिन अदृश्य और अगेय अनुभूतियों में अठखेलियाँ करता है, उन्हें बाँध पाना न तो चित्र की सीमा के लिए सहज है, न संगीत की स्वर-लिपियों के लिए। जो 'कहन-सुनन की बात नहिं, लिखी-पढ़ी नहिं जाय' उसे भी काव्य, भाषा के संकेतों से, प्रकाशित करने का प्रयत्न करता है।"[1]

निबंध लेखन — निर्णयात्मक शैली

"ग्रामोद्योग में आत्मदान देकर ही मनुष्य अन्य कार्यों में निर्म्मल रह सकता है। अन्य कार्य ग्रामोद्योग के ही निर्म्माल्य हैं।

हम सभी की साँस शोषणपूर्ण वातावरण से दूषित है। उसका प्रायश्चित श्रम को पोषक बनाकर ही किया जा सकता है। आन्तरिक स्वास्थ्य (अन्तःशुद्धि) के लिए यह आवश्यक है कि केवल संस्थाएँ ही नहीं, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी दिनचर्य्या में अमन-वसन की तरह रचनात्मक कार्यों को भी स्थान दे।

संस्थाओं के स्वावलम्बन के लिए ग्रामोद्योग अनिवार्य है। यदि संस्थाओं का संचालन धनिकों के दान और सरकार के आर्थिक सहयोग से ही होता है तो उनकी नैतिकता सन्देहास्पद है। इस प्रकार के अनुग्रह से अनुगृहीत होकर हम उनके दूषणों से मुक्त नहीं हो सकते। आश्रय के अनुकूल ही आश्रित की गति-मति बन जाती है।

---

1. 'काव्य चिन्तन' — 'कवित और काव्य', पृ. 2, 3, 4, 5

गाँधी-स्मारक-कोष में भी धनिकों का दान है। इसका सदुपयोग जब गाँधीजी के अभीष्ट अर्थशास्त्र को अग्रसर करने में किया जायगा तभी शोषितों के रक्तकुण्ड से युग-लक्ष्मी का आविर्भाव होगा। सच तो यह है कि गाँधीजी की साधना से स्वाधीन भारत का सम्पूर्ण कोष उनके रचनात्मक कार्यों में लगा देना चाहिये।

तीसरे महायुद्ध के बाद संसार का वर्तमान अर्थशास्त्र चल नहीं सकेगा। गाँधीजी के रचनात्मक कार्य (मूलतः ग्रामोद्योग) वर्तमान संकट से भी उबारने के लिए है, साथ ही आने वाले युग को भी सम्बल देने के लिए अग्रिम प्रयास है। यह आग लगने के पहिले ही कुआँ खोद लेना है।

साहित्यिक संस्थाएँ रचानात्मक कार्यों के लिए ही धनिकों से दान और सरकार से सहयोग लें। सरकार को भी इसी निमित्त सहयोग देना चाहिए, तभी जनता के धन का सदुपयोग उसी को नवजीवन देने में हो सकेगा।

यों जो रचनात्मक कार्यों के लिए राजनीतिक क्षेत्र से आये हुए कार्यकर्त्ता प्रयत्नशील हैं ही किन्तु प्रयासों की अपेक्षा साहित्यिक प्रयास से ही कर्म का मर्म मिल सकेगा। 'पथचिन्ह' में लेखक ने कहा है — "जन-मनमें प्राणित्व का संचार कोरे कार्यकर्त्ताओं द्वारा नहीं, जीवन के शिल्पियों (कवियों और कलाकारों) द्वारा होगा। कर्तृत्व तो मशीन में भी होता है, किन्तु कवित्व (अन्तःस्वारस्य) के बिना वह निःस्निग्ध है। आवश्यकता यह है कि जनता के भीतर कार्यकर्त्ता ही नहीं, कलाकार भी बिखर जाएँ।"[1]

निबंध लेखन—चिन्तनप्रधान विश्लेषणात्मक शैली

व्यक्ति के मूर्त जीवन में एक अमूर्त कवित्व भी अगोचर है। और सच तो यह है कि वह अमूर्त कवित्व ही हमारे मूर्त जीवन का प्राण है, विकास है: उसी से हम वास्तविकताओं की मिट्टी में भी एक जीवित आत्मा है। अन्यथा, जीवन हाड़-माँस की ठठरियों के दुस्सह भार के सिवा क्या रह जाय ? कला के बिना वास्तविकता मृत है, जीवित-वास्तविकता ही मानवीय स्वाभाविकता है। काव्य, संगीत, चित्र तथा अन्यान्य कलाएँ हमारे जीवन-पोषक मनोरागों के साहित्यिक स्वरूप हैं, जिन्हें एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी, पूर्वजों की वसीयत के रूप में, पाती चली जाती हैं। इसलिए कला की उपेक्षा कर, साहित्य को, जीवन को, एकमात्र शुष्क वास्तविकता पर ही केन्द्रीभूत कर देना भावयोग का लक्ष्य नहीं हो सकता, उद्योग का हो सकता है। उद्योग ने आवश्यकता से अधिक वास्तविकता पर ध्यान दिया (लौह-यन्त्रों की भरमार इसका उदाहरण है।) अपने व्यावहारिक जीवन में जब हम कला को मूर्त करते हैं तब हमारा उद्योग भी केवल उद्योग न रहकर, भावयोग की एक कला हो

1. 'साहित्य संस्थाओं का गन्तव्य' — 'धरातल', पृ. 59

जाता है, — यन्त्रों की कला नहीं, बल्कि मानवीय श्रम की कला, जीवन की तन्मयता की कला, स्वाभाविक कला ! जैसे खादी अथवा अन्य कुटीर शिल्प।

हाँ, आज का हमारा कला-प्रेम बहुत कुछ अस्वाभाविक हो गया है। केवल इसलिए नहीं कि हम वास्तविकता पर आवश्यकता से अधिक ध्यान देने लगे हैं, बल्कि इसलिए भी कि कला हमारे लिए रुढ़ हो गयी है। युग की हलचलों में जहाँ कला का बहिष्करण तथा वास्तविकता का नवीनीकरण (समाजवाद) मध्ययुग तथा आधुनिक युग की विभीषिकाओं-द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों की खिन्नता को सूचित करता है, वहाँ नवचैतन्य-युग के प्रश्नों से आँख मूँदकर कला के संरक्षण का ढोंग भी एक फैशन-सा लगता है। आज आर्ट गैलरियों की कला मुट्ठी भर सम्पन्न व्यदितयों के लिए एक ललित कौतुक जुटाती है। प्रदर्शनकारी उसे प्रदर्शित करते हैं, देखने वाले देखते हैं और कला विद्युद्दीपों में ज्वलन्त हँसी हँसकर रह जाती है। वह 'दर्शन' नहीं, प्रदर्शन की वस्तु हो गयी है। आज हमें प्रदर्शन को तो छोड़ना है, साथ ही नवीन वस्तुजगत् की वास्तविकता (अभावजगत्) को चिरकुरूप भी नहीं हो जाने देना है।"[1]

चिन्तन प्रधान — विश्लेषणात्मक शैली

"हमें तो जन-साधारण का उद्धार उसी के दैनिक स्वावलम्बन से करना है, न कि किसी पूँजीवादी शक्ति को 'सार्वजनिक' बनाकर। यन्त्रवाद पूँजीवाद की शक्ति है। पूँजीवाद में धार्मिक शोषण अपने पुराने ही रूप में (मन्दिरों, मठों और चर्चों में) बना हुआ है, किन्तु आर्थिक शोषण एक नयी प्रणाली पा गया है यान्त्रिक रूप में। अवश्य ही समाजवाद यन्त्रों को जनसाधारण के आर्थिक शोषण के बजाय आर्थिक पोषण का साधन बना देना चाहता है। उसका उद्देश्य शुभ है किन्तु साधन शुभ न होने से उद्देश्य भी अशुभ हो जाता है। जीवन का जैसा साधन होता है, मनुष्य का व्यक्तित्व भी वैसा ही हो जाता है। यन्त्रों के साथ मनुष्य भी यन्त्र ही हो जायेगा, वह चाहे सम्पत्तिवादी युग में हो चाहे प्रगतिवादी युग में। साम्राज्यवादी युग में तो मनुष्य आज नक़ली फेफड़ों से साँस लेने का अभ्यास करने जा रहा है ! यह यान्त्रिक कृत्रिमता का चरम-निदर्शन है।

प्रश्न यह उठता है कि मध्ययुग में यन्त्र नहीं थे, फिर मनुष्य, मनुष्य क्यों नहीं बना रह सका ? — इसका उत्तर यह है कि यन्त्रवाद न होते हुए भी उस युग में पूँजीवाद का पुराना रूप सामन्तवाद को हटाकर यदि मनुष्य को मध्ययुग का शिल्प-स्वावलम्बन मिल सके तो नूतन मानव प्राचीन और नवीन दोनों युगों का एक समुचित प्रतीक बन सकता है। इस तरह मनुष्य के शोषण को रोकने के लिए समाजवाद और मनुष्य के स्वावलम्बन को रोकने के

---

1. 'कलाजगत और वस्तुजगत' — 'संचारिणी', पृ. 110-111

लिए गाँधीवाद की आवश्यक्ता है। कर्तव्य की इस दिशा में गाँधीवाद रचनात्मक है। समाजवाद रक्षात्मक। कांग्रेस द्वारा ग्रामोद्योगों का प्रचार होने पर, सरकार को भी इस तरफ झुकते देखकर गाँधीजी ने कहा था कि सरकार यदि मुझे सहयोग दे तो मैं चमत्कार कर दिखाऊँ। भावी युग में गाँधीवाद को यही सहयोग समाजवाद से अपेक्षित होगा। उस समय जनता बनेगी गाँधीवाद से, सरकार बनेगी समाजवाद से। जनता सरकार पर उसी प्रकार हावी होगी जिस प्रकार पुराकाल में धर्म, राज्य पर हावी था। नये तन्त्र में राजा (सरकार) ईश्वर नहीं, बल्कि जनता ही जनार्दन हो जाएगी। अन्यथा, सामन्तवाद में धर्म-तन्त्र की जो स्थिति हुई वही प्रगतिवाद में जनतन्त्र की हो जायेगी।

प्रगतिशील युग के सामने संस्कृति का प्रश्न मध्ययुग (गाँधीवाद) की ओर से आया है। संस्कृति में मनुष्य की सजीवता है, यन्त्रों की निस्पन्दता नहीं। संस्कृति को शिल्प-स्वावलम्बन देकर गाँधीवाद पर एक ओर समाजवाद को सहूलियत पहुँचाता है, दूसरी ओर उसे आध्यात्मिक बनाकर छायावाद को। अपने शिल्प-स्वावलम्बन में गाँधीवाद मानववादी जान पड़ता है, किन्तु मानववाद उसका लौकिक प्रतीक है, अहिंसा द्वारा वह उसके भी ऊपर प्राणिवादी हो जाता है — वहीं वह ब्रह्मलीन है। इस प्रकार छायावाद भी अपने कुछ लौकिक प्रतीकों (मनुष्य और प्रकृति) को लेकर वहीं पहुँचता है जहाँ गाँधीवाद ; जबकि समाजवाद हँसिया-हथौड़े को प्रतीक बनाकर मानववाद तक ही पहुँचता है।"[1]

निबंध लेखन — विश्लेषणात्मक शैली

गाँधीवाद के द्वारा सुधारोन्मुख समाज तथा परिवार के वातावरण में पुराकाल की भाँति एक नवीन व्यक्तित्त्व और एक नवीन समाज का आरम्भ हुआ — सोऽहं (आध्यात्मिक व्यष्टिवाद), एकोऽहं बहुस्याम् (आध्यात्मिक समष्टिवाद)।

यद्यपि मध्यकाल की भीषण साम्राज्यशाही उस काल के इतिहास के साथ ही समाप्त हो गई थी, किन्तु वह घर में समाप्त होकर बाहर से ब्रिटिश शासन के रूप में फिर आ गई। गाँधीवाद इसी के प्रतिकार के लिए नवीन समाज ले आया। किन्तु जैसे मध्यकाल में सन्तों के रहते भी लोहे के प्रतिकार के लिए लोहा ही बजा, वैसे ही, गाँधीवाद ; (आध्यात्मिक समष्टिवाद) के रहते हुए भी, पार्थिव साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक पार्थिव समष्टिवाद (समाजवाद) सजग हो रहा है। आज हमारे साहित्य में ये ही दोनों 'वाद' चल रहे हैं — गाँधीवाद और समाजवाद।

---

1. 'प्रगतिवादी दृष्टिकोण' — 'सामयिकी', पृ. 142-143

समाजवाद और साम्राज्यवाद, ये दोनों लक्ष्य-विभिन्नता रखते हुए भी अहंकारों के ही द्वन्द्व हैं। मध्ययुग में भी अहंकार से अहंकार भिड़े किन्तु आज वे अपने आधुनिक संस्करणों में भिड़ रहे हैं। इस तरह तो अहंकार का नव-नव रूपान्तर ही होता जायेगा, उसका निर्मूलन नहीं। मध्ययुग के सन्तों की बात हम उस समय नहीं सुन सके, अतएव उनकी वाणी पुनः गाँधी के स्वरुप में अमर होकर आई। और जब तक हम उसे सुन नहीं लेते तब तक वह पुनर्जन्म धारण कर बराबर आती रहेगी। यदि वाणी अनादि है, इसलिए यह चिरन्तन रहेगी ; जब कि अहंकारों के द्वन्द्व क्षणिक आवेश होते जायेंगे। इस चिरपुरातन वाणी के श्रावक ग्रामीण होंगे। पुराने बीज को नये अंकुर के लिए ग्रामीण ही सुरक्षित रखते हैं। मजदूरों की जागृति उन्हीं की आधुनिकता के लिए है। आधुनिकता नगरों में पनपती है, प्राचीनता देहातों में। ग्रामीणों के लिए अब तक नागरिक आधुनिकता के माध्यम थे जमींदार और महाजन। ये दोनों ही शोषक थे। इस रूप में ग्रामीण आधुनिकता के प्रति उदासीन थे। किन्तु समय की गति से पिछड़ जाने के कारण आज उनकी पुरातनता ख़तरे में पड़ गई है। ऐसे समय में उन्हीं की श्रेणी के जो श्रमिक नगरों में उनके प्रतिनिधि हैं, उनके द्वारा वे आधुनिकता के प्रति भी सजग हो रहे हैं। श्रमिकवर्ग को विश्वव्याप्त जागृति में जगे मजदूर आधुनिक प्रगति को अपने देश के बुनियादी समाज (देहात) के अनुरूप ग्रहण करेंगे, क्योंकि वे उसी सतह के नागरिक संस्करण हैं। उनके द्वारा ग्रामीणों का मूलजीवन (पुरातन सांस्कृतिक जीवन) आधुनिकता का निजी विकास ग्रहण करेगा। शिक्षितवर्ग में भी वे ही उसके प्रतिनिधि होंगे जो उसे उसी की सतह पर जाकर उठायेंगे। माहत्मा गाँधी ने यही तो किया है।"[1]

निबंध लेखन — विचारात्मक शैली

"हमने कहा कि ऐतिहासिक युगों के निर्माण में नारी का व्यक्तित्व नगण्य था। पुराकाल और गाँधी-काल के 'आख्यान' युग में नर-नारी का कर्मयोग में सहयोग है ; किन्तु ऐतिहासिक युगों में केवल पुरुष का स्वार्थ-भोग ही देख पड़ता है, नारी का मनोयोग नहीं। पुरुष के राजतन्त्र में नारी खनिज धातुओं का ही शारीरिक रूपान्तर है। इन पौरुषेय युगों की सम्पत्ति का नाम है — कामिनी-कांचन। कांचन के साथ जुड़कर नारी भी जड़-सम्पत्ति बन गयी, चेतन प्राणी नहीं। अन्तर केवल यह रहा कि कांचन कोषागार में बन्द हुआ, नारी अन्तःपुर में बन्द हुई। इस तरह पुरुष ने समाज में दुहरे-कोषागारों की स्थापना की। आज इनमें से एक कोषागार — अन्तःपुर — तो टूट चला है, दूसरा कोषागार अभी समाजवाद की प्रतीक्षा में है। किन्तु कामिनी और कांचन, इन दोनों को अपने बन्दीगृहों से से मुक्त होकर फिर उन्हीं जड़-युगों की सभ्यता का नवीन अभिनय नहीं करना है।

---

1. 'इतिहास के आलोक में — 'युग और साहित्य', पृ. 158-15

ऐतिहासिक युग नारी के हृदय-कोमल व्यक्तित्व से वंचित होकर पुरुष की जड़ता से पाषाण-युग बन गये। इन युगों की पौरुषेय सभ्यता मानसिक पक्षाघात से विकलांग है। उसमें जीवन की पूर्ण संस्कृति — नर-नारी के सायुज्य — का अभाव है। स्वयं शिव केवल पुरुष नहीं है, वे हैं अर्द्धनारीश्वर। लोक-संग्रह के लिए पुरुष का पौरुष और नारी का सौहार्द्र, इन्हीं के संयोजन का नाम है अर्द्धनारीश्वर। बिना सौहार्द्र के पुरुष जड़ है, नारी ही अपने व्यक्तित्व से उसे सजीव बनाती है, जैसे पर्वत को निर्झरिणी, शिव को पार्वती। अतएव पाषाण-युग की सभ्यता को अपने पद-चिन्ह देकर युग-पुरुष गाँधी उसके भीतर से नारी का ही उद्धार कर रहा है।

आज सारी समस्याओं के मूल में स्त्री-पुरुष की समस्या ही प्रच्छन्न है। यह समस्या एक तरह से पशुता के विरुद्ध मानवता का संकेत है। नारी की चेतना के अभाव में पुरुष-जात ऐन्द्रिय सभ्यता का एकांगी तो है ही, साथ ही वह पौरुषेय भी नहीं बनी रह सकी, क्योंकि पुरुष पुरुष न होकर पशुमात्र रह गया। नारी को जड़ धातुओं में फेंककर पुरुष कैसे पुरुष कहला सकता है, वह तो बिना मानवी के मानवता की एक विडम्बनामात्र है। पाशविक अहंकार ही पुरुष का पुरुषत्व बन गया है। पुरुष का इतना अहंकार कि अपने एकतन्त्र अहम के लिए नारी को भी जड़-सम्पत्ति बना दिया ! वह सामाजिक प्राणी न रहकर वनचर हो गया है जो अपने सिवा शेष सृष्टि को सभ्यता भोग-प्रधान है। भोगवाद ने ही सत्-चित्-आनन्द—सच्चिदानंद—की श्रृंखला को विच्छिन्न कर दिया है। नारी के उद्धार से ही पुरुष को अपने अहंकार की क्षुद्रता का बोध होगा। जड़ता से चेतना में आकर यदि नारी फिर नर की अन्ध-अनुरक्ति नहीं बनी, वह अपना मौलिक विकास कर सकी तो पुनः उसी के द्वारा सच्चिदानन्द को श्रृंखला जुड़ेगी। युगों तक जड़-सम्पत्ति में परिणीत होने के कारण वह जड़ता के वास्तविक मूल्य (निस्सारता) को समझ गयी होगी, फलतः नर-निर्मित नरक को चेतना का स्वर्ग बनायेगी।"[1]

निबंध लेखन — संश्लिष्ट शैली

रवीन्द्रनाथ के भाव जितने ही अन्तगर्भित होते गये उनकी भावाभिव्यञ्जन की कला भी उतनी ही अवगुण्ठित हो गयी। इस भावांकन की चरम सीमा चित्रों में बाहृय आकार कुछ कहते ही नहीं, वे इतने अपरिचित हैं कि मानव-समाज और प्रकृति-समाज में कहीं नहीं मिलते। कारण, उन चित्रों में रवीन्द्रनाथ ने प्राणियों के शारीरिक अस्तित्व को नहीं, बल्कि उनके मानसिक व्यक्तित्व को अंकित किया है। बाहृय-रूपों की अपेक्षा अन्तःस्वरूप में मनुष्य और प्रकृति का जो अंश जैसा कुरूप या सुरूप लगा, उन्होंने उसे ही आकार-प्रकार दे दिया। ये कवि के एक्सरे-चित्र हैं, जिनमें भीतर की मुखाकृतियाँ दिखायी गयी हैं। जिस

---

1. 'युगदर्शन', 'सामयिकी', पृ. 5-6

तरह उन्होंने इन मुखाकृतियों का आविष्कार किया है, उसी तरह इनकी अभिव्यक्ति के लिए नयी चित्रकला का भी। किसी भी चित्रकला से उनके टेकनीक का सादृश्य नहीं। वह मुक्त काव्य की तरह मुक्त चित्रकला है। कुछ लोग उनके चित्रों को चित्र नहीं, 'अक्षर-शिल्प' कहते हैं। ठीक है, जिन अक्षरों से उनके भावमूर्त होते थे, उन्हीं अक्षरों से चित्र भी मूर्त हो गये।

ज्यों-ज्यों रवीन्द्रनाथ की दृष्टि में नवीनता आती गयी है, त्यों-त्यों उनके दृष्टिपात करने के ढंग (आर्ट) में भी नूतनता आती गयी है; चित्रकला में ही नहीं बल्कि साहित्य-कला में भी। वे चिरन्तन-कलाकार थे; न नूतन, न पुरातन। वे तो कला के उर्वर मस्तिष्क विधाता थे। वृद्धावस्था में भी उन्होंने कला के जो नये-नये टेकनीक दे दिये हैं, वे तरुण शिल्पी के लिए लोभ की वस्तु हैं।

रवीन्द्रनाथ निबन्धकार, व्याख्यानदाता और अभिनेता भी थे। निबन्धों और व्याख्यानों में उनकी वाग्वैदंध्यता है, अभिनयों में उनकी कलानुरागिता। अपने सभी व्यक्तित्वों में रवीन्द्रनाथ का एक ही व्यक्तित्व है कवि का। वर्तमान महायुद्ध (दूसरे महायुद्ध) की विभीपिका के शमन के लिए प्रेसिडेण्ट रुजवेल्ट को उन्होंने जो तार दिया था वह भी कविता की ही भाषा में। उनका सम्पूर्ण कृतित्व एक ही सूत्र में बँधा है, वह है काव्य-सूत्र। कवि होने के कारण उनमें नव-नव उद्‌भावनाओं की कुशल क्षमता थी। 'चार अध्याय' के अतीन्द्र की तरह भावुकता ही उनकी अमोघ शक्ति थी। साहित्येतर विपयों, यथा इतिहास, राजनीति और विज्ञान के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ की स्थापनाएँ एक कवि की ही नवोद्‌भावनाएँ हैं। प्रत्यक्ष जगत् में जैसे कवि की सूक्ष्म दृष्टि प्रवेश करती है, वैसे ही इन स्थूल विपयों में भी उसने प्रवेश किया है। इन स्थूल विषयों पर रवीन्द्रनाथ की स्थापनाएँ अकाट्य मानी जाती है, उनकी चित्रकला की ही तरह।"[1]

निबंध लेखन — काव्यात्मक शैली

"वह आत्मा का कवि है। सत्य उसकी वीणा है, विश्ववेदना उसकी रागिनी, अहिंसा उसकी टेक और करुणा उसका रस है। संस्कृति उसकी स्वरलिपि है। प्रभु उसका आलम्बन या अवलम्बन है, जनता उसका उपकरण है, विश्व उसका काव्य है, कर्म उसके अक्षर हैं, संयम-नियम उसके छन्द।

राजनीति और बापू की आत्मानुभूति में यह अन्तर है कि एक 'प्रभुता' की ओर है, दूसरी 'प्रभु' की ओर। राजनीति में वाचलता है, अनुभूति में मूकता, गाँधी का 'मौनव्रत' इसी का सूचक है। वह बोलने के लिए नहीं बोलता, उसकी वाणी तो आचरण है। ज्ञान

1. 'रवीन्द्रनाथ' — सामयिकी, पृ. 7

और भाव को लेकर वह अपने व्यक्तित्व में कवीर्मनीपी है — उसमें कवित्व और ऋपित्व का समन्वय है। इस प्रकार उसका व्यक्तित्व लोकयात्रा में भक्तिकाव्य लेकर चल रहा। उसका प्रत्येक पग काव्य का ही पद-विन्यास है। समाज-निर्माण द्वारा काव्य को वह शब्दों में नहीं, प्राणियों के जीवन में मूर्त करता है।

वह दिन दूर नहीं है जब विश्व की अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियाँ गाँधीवाद की ओर उसी तरह आकर्पित होंगी जैसी सन्तप्त आत्माएँ शीतलता की ओर। भापण-स्वतंत्रता (अक्टूबर, सन् 1940) के आन्दोलन के समय बापू ने कहा भी था — "कौन जानता है कि व्रिटेन और भारत में ही नहीं, बल्कि दुनिया भर के युद्धलिप्त राप्ट्रों में भी मेरे द्वारा सुलह न होगी ?" — इन शब्दों में 'अदृश्य भविष्य' का आभास है।

'ज्योत्सना'कार कवि पन्तजी के शब्दों में सन्तप्त विश्व की आज यही शुभकामना है —

मंगल चिर मंगल हो
मंगलमय सचराचर
मंगलमय दिशि-पल हो।
मंगल चिर मंगल हो।।
लुप्त जाति-वर्ण-विवर,
शान्त अर्थ-शक्ति-भँवर,
शान्त रक्त-तृष्ण समर,
प्रहसित जग शतदल हो।
मंगल चिर मंगल हो।।[1]

आलोचना — विवेचनात्मक शैली

कवि कह देने से ही रवीन्द्रनाथ की आत्मा का मूर्त परिचय नहीं मिल सकता। हम कहेंगे — वे शिशु थे। वे अपने 'क्रेसेण्ट मून' में हैं। कवि की आत्मा वयहीन होती है — उसकी अभिव्यक्तियों में तो वयोविकास रहता है, किन्तु भावों में अखण्ड शैशव। जो शिशु है वही कवि है। आत्मा की शिशुता बनाये रखकर ही रवीन्द्रनाथ चिरन्तन कवि बने रहे।

बचपन में बालक रवीन्द्र पर सेवकों का शासन मानो उसके शैशव को उसी में पुंजीभूत हो जाने का बन्धन था। वह बन्धन उसके लिए वरदान हो गया — प्रकृति ने उसके निकट आकर उसे अजस्र कवित्व दे दिया। प्रकृति के क्रोड़ में उसका आत्मविकास प्रकृति की तरह ही रोमैण्टिक ढंग से हुआ, किसी एकैडेमिक ढंग से नहीं ; इसीलिए रवीन्द्रनाथ की सारी रचनाएँ रोमैण्टिक हैं।

1. 'भविष्य पर्व' — 'सामयिकी', पृ. 260

यह ठीक है कि रवीन्द्रनाथ ने अपनी कृतियों में उच्चवर्ग का समाज दिया है, किन्तु उच्चवर्ग, मध्यवर्ग और निम्नवर्ग गार्हस्थिक संस्कृति एक है; रवीन्द्रनाथ ने उसी एकोन्मुख सांस्कृतिक समाज को व्यक्त किया है। गार्हस्थिक संस्कृति से भिन्न, जीवन का नवीन आर्थिक दृष्टिकोण रवीन्द्रनाथ के परवर्ती युग का है, इस युग के आते-न-आते वे चले गये। यह युग उनके लिए नहीं था। उनके चले जाने के बाद से साहित्य-संगीत-कला-शून्य पृथ्वी बंजर हो गयी है। पिछले युग की पृथ्वी के वे परिपूर्ण सौभाग्य थे — यश, वय, वैभव और प्रतिभा — सभी दृष्टियों से।"[1]

"एक तरफ़ उनके सामने समाजवाद आता है, दूसरी तरफ गाँधीवाद। इन दोनों के बीच में वे अपने विचारकों के लिए एक पहेली हो जाते। किन्तु उनकी आटोबायोग्राफी में हम उन्हें ढूँढ़ें तो वे पहेली न होकर कहीं-न-कहीं स्पष्ट हो जाते हैं ओर तब गाँधीवाद और समाजवाद बेमेल न होकर जवाहरलाल के हृदय और मस्तिष्क की युगल चेतनाएँ जान पड़ने लगते हैं। फिर भी, एक ओर गाँधीवाद से उनकी कशमकश चलती है, दूसरी ओर समाजवाद से। इसका कारण जान लेना जवाहरलाल को जान लेना है। जवाहरलाल की स्थिति उस सैनिक की-सी है जो अपने ऊपर के आदेशों को मानने के लिए प्रस्तुत है, किन्तु उन आदेशों के सम्बन्ध में अपनी दिलजमई भी कर लेना चाहता है। इसीलिए स्थल विशेष पर गाँधीवादियों से भी उनका मतभेद है और समाजवादियों से भी। अतएव गाँधीवादी और समाजवादी दोनों ही उन्हें अपने समूह में पूर्णतः सम्मिलित न पाकर दुविधा में पड़ जाते हैं। वे अपने को 'लिमिट' नहीं करना चाहते।"[2]

आलोचना साहित्य — ऐतिहासिक आलोचनात्मक शैली

भारत का इतिहास कविता में बन्द होता आया है। कविता ही हमारे लिए सम्पूर्ण साहित्य रही है। यों कहें, हम भाव-लोक के प्राणी रहे हैं, फलतः हमारा जो साहित्य बना वह काव्यमय होकर — उसे चाहे हम दृश्य-काव्य कहें या श्रव्य-काव्य। हमारे स्रष्टा, श्रोता और दर्शक जीवन में भावादर्श को लेकर चले आये हैं। भावमय जीवन और उसका भावमय स्वप्न — यही हमारा आधार और आधेय रहा है। जीवन में भावों की जो अपूर्णता रह जाती थी, उसी की पूर्णता या परितृप्ति हम स्वप्नों (काव्यों) में ग्रहण करते रहे हैं।

दन्तकथाओं और लोकगीतों में जनसाधारण का जो जीवन प्रवाहित होता आया है वही उच्च कोटि के साहित्य में भी। यहाँ उसे शिक्षितों की कला प्राप्त हो गई है। मनुष्य के आकार-प्रकार की भाँति ही सामाजिक अवस्थानों में जीवन समग्रतः एक था, राजा से रंक तक एक ही मनोधारा (स्वप्न-प्रवाह) में प्रवाहित थे, फलतः साहित्य भी एक-सा है।

---

1. 'रवीन्द्रनाथ' — 'सामयिकी', पृ. 7
2. 'जवाहरलाल : एक मध्यविन्दु' — 'सामयिकी', पृ. 77

विदेशियों के आगमन के साथ वह पौराणिक वातावरण बदल गया। यों तो पुराण भी प्राचीन इतिहास ही हैं, किन्तु आज जिस अर्थ में इतिहास अंगीकृत है, उसका आरम्भ विदेशियों के आगमन के साथ ही होता है। भिन्नदेशीय जीवन के संघर्षों का परिणाम ही अब इतिहास बन गया है। उस पौराणिक जीवन में भी संघर्ष रहे हैं, या तो पराक्रम के लिए या मानव-संरक्षण के लिए। उन संघर्षों का वातावरण समुद्र की क्षुब्ध तरंगों की भाँति ऊपर ही ऊपर दोलायमान होता रहा है, भीतर का जीवन (समाज की आन्तरिक सतह का जीवन) अपनी स्वाभाविक गति से ही संसरण करता रहा है। किन्तु तूफ़ान की भाँति विदेशियों का आगमन जन-समुद्र के बाह्य वातावरण में ही नहीं, सबमेरीन की तरह आन्तरिक सतह में भी हलचल मचा गया। यहीं स्वाभाविक गति से बहते हुए जीवन-प्रवाह को एक अनपेक्षित वास्तविकता का सामना करना पड़ा, मानों भावादर्श को वस्तुसत्य के सम्मुख उपस्थित होना पड़ा। किन्तु भारत के जीवन ने उस वस्तुसत्य को स्वीकार नहीं किया। भावलोक के प्राणियों ने अपनी ही वाणी (कविता) में अपने देश के क्षत्रपों को उस वास्तविकता का सामना करने के लिए उत्साहित किया। उन्हें हम वीरगाथा-काल का कवि कहें या चारण, किन्तु उन्होंने अपने क्षत्रपों के संरक्षण का पूरा-पूरा ऋण-शोध किया। वे अपने समय में उसी साहित्यिक स्थान पर थे जहाँ आज हमारे राष्ट्रीय कवि हैं।"[1]

आलोचना साहित्य — ऐतिहासिक आलोचनात्मक शैली

"इस समय कवियों ने राष्ट्रीय कविताएँ तो रचीं ही, साधारण जनता ने भी अपने भावोद्गार अपने तर्ज के गीतों और पैम्फ्लेटों में प्रकट किये। सन् '20 और सन् '30 के राष्ट्रीय लोकगीतों को यदि हम एकत्र देख सकें तो उनके द्वारा न केवल सत्याग्रह की राष्ट्रीय प्रवृत्तियों का परिचय मिलेगा, बल्कि यह भी ज्ञात होगा कि देश किस प्रकार अपने आपको पहिचान गया था। वे राष्ट्रीय लोकगीत जनता द्वारा रचित इतिहास का काम दे सकते हैं। हमें वे दिन याद आते हैं जब पंक्ति-बद्ध जुलूसों में जनता एक छोर से दूसरे छोर तक राष्ट्रीय-गीत गाते हुए चलती थी, उस समय ऐसा इस लड़ी को जोड़ने के लिए हम पिछले की श्रृंखला को फिर देखें। सन् '17 के महायुद्ध के बाद पंजाब-हत्याकाण्ड से देशव्यापी राष्ट्रीय जागृति आई। देश अभी समग्र रूप से जगा ही था कि सन् '20 में तिलक का देहान्त हो गया। इसके बाद जनता ने राष्ट्र के कर्णधार के रूप में महात्मा गाँधी को पाया। पंजाब-हत्याकाण्ड में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही मारे गये थे। युद्ध के पश्चात् भारत की सेवाओं के पुरस्कार के बजाय यह भीषण व्यवहार देश की जागृति में वह काम कर गया जो एक बड़ी क्रान्ति से ही सम्भव था। भारत एकदम बदल गया, उसकी राष्ट्रीय बुभुक्षा तीव्र हो गई। वह बुभुक्षा राष्ट्रीय आवश्यकताओं को समझने और ग्रहण करने के

---

1. 'इतिहास के आलोक में' — 'युग और साहित्य', पृ. 53-54

लिए तैयार हो गयी। किन्तु तिलक के अभाव में देश नेतृत्व-शून्य था। ठीक मौक़े पर सन् '20 में महात्मा गाँधी असहयोग का सात्विक आहार लेकर आये। इसके लिए उन्होंने जनता के सामने रचनात्मक कार्यक्रम रखा। यह कार्यक्रम ऐसा था कि इसके द्वारा जनता न केवल राजनीतिक बल्कि सामाजिक शक्ति भी ग्रहण करती थी। अब जान पड़ता था कि समुद्र के एक छोर से नवचेतना तरंगित होकर दूसरे छोर तक गूँजती चली जा रही है। उस समय आसेतु-हिमांचल एकलक्ष्य-एकस्वर-एकप्राण हो गया था। किन्तु हमारे इस आन्दोलन में ऐसे लोग भी शामिल हो गये थे जो समूह के लक्ष्य की अपेक्षा अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं के लोभ को प्रधान बनाकर आ मिले थे। पाशव दुर्बलताओं के ये प्रतिनिधि सदैव रहे हैं और सदैव रहेंगे। दूध में पानी की तरह इनके मिल जाने पर भी युग का सारग्राही हंस इन्हें छोड़कर आगे बढ़ जाता है।"[1]

आलोचना साहित्य — तुलनात्मक आलोचना शैली

छायावाद वृहत्त्रयी

हिन्दी में छायावाद के क्रमागत प्रतिनिधि कवि हैं — प्रसाद, निराला, पन्त। ये छायावाद की कविता 'वृहत्त्रयी' हैं। 'प्रसाद' के बाद अब 'वृहत्त्रयी' में देवी महादेवीजी का शुभ नाम सम्मिलित है। वे मीरा की काव्यात्मा हैं। उनके गीतों से नवयुवकों को गीतिकाव्य की नयी भाषा और नयी शैली मिली।

प्रसाद जी और निराला जी की भाषा में द्विवेदी-युग का गद्य-संस्कार शेष है। उसमें पारुष्य है, परिष्कार नहीं। फिर भी प्रसाद जी की अपेक्षा निराला जी की भाषा सुगठित है; बँगला के सम्पर्क से कलात्मक है।

प्रसाद जी और निराला जी छायावाद में नैबन्धिक भाव-काव्य के कवि हैं। द्विवेदी-युग की प्रबन्ध-श्रृंखला इनकी रचनाओं में मिलती है। छायावाद का सर्वथा भावमय स्वतन्त्र मुक्तक व्यक्तित्व पन्त की 'वीणा', 'पल्लव' और 'गुञ्जन' में है।

प्रबन्ध-काव्य को प्रसाद जी की 'कामायिनी' और निराला जी के 'तुलसीदास' से भावात्मक उत्कर्ष मिला है। कथा-बन्ध भाव की तरह ही सूक्ष्म है।

प्रसाद जी की अपेक्षा निराला जी की कविताओं में भावों और रसों की विविधता है। प्रसाद जी मुख्यतः श्रृंगार रस के कवि हैं, आचार्य शुक्लजी के शब्दों में उनमें 'मधुचर्य्या' की प्रधानता है।

निराला जी सभी रसों के कवि हैं। रसों की तरह ही निराला जी की भाषा और काव्यालम्बनों में भी विविधता है।

---

1. 'इतिहास के आलोक में' — 'युग और साहित्य', पृ. 70, 71, 72

निराला जी की विभिन्नरूपा भाषा 'हरिऔध जी' का स्मरण दिला देती है, उन्हीं की तरह वे भी गहन-से-गहन और सहज-से-सहज भाषा लिखने में पटु हैं। भाषा की तरह ही वे छन्दों के भी नये-नये प्रयोग करते रहते हैं। रीतिकुशल कवि हैं।

प्रसाद जी और निराला जी वस्तुतः द्विवेदी-युग के ही नये कवि हैं। इनकी भाषा का ढाँचा उसी युग का है, नवीनता भावों और छन्दों में है। प्रसाद जी ने अतुकान्त छन्द दिया था, निराला जी ने मुक्त छन्द दिया।

पन्त और महादेवी छायावाद की कविता के दो विशेष कलाधर हैं। मध्यकाल की काव्यचेतनाओं को इन्होंने नूतन रूप-रंग और वाणी दी है। प्रकृति के मनोहर व्यक्तित्व का परिचय पन्त ने दिया, प्रकृति को पुरुष पुरातन का दिव्य परिचय महादेवी ने। प्रकृति का उल्लास पन्त में है; प्रकृति का उच्छ्वास महादेवी में। पन्त की कविता में प्रकृति एक बालिका की तरह खेलती है, महादेवी की कविता में प्रकृति विरहिणी की तरह अपने को निवेदित करती है। एक में क्रीड़ा है,दूसरे में पीड़ा। फलतः दोनों की अभिव्यक्तियों का रुख-मुख एक दूसरे से भिन्न है। अभिव्यक्तियों में अन्तर होते हुए भी दोनों ललित कला के ही कवि हैं — चित्रकला और संगीत कला के संयोग से इन्होंने काव्य (भाव कला की) कमनीय रचना की है। यद्यपि कला का विश्वविद्यालय दोनों का एक है, किन्तु उनके जीवन की 'थीसिस' अलग-अलग है।

खड़ी बोली को काव्योचित भाषा देने का एकच्छत्र श्रेय पन्त को है। यदि पन्त का कवि नहीं आया होता तो आज छायावाद की कविता अपनी कोमल अभिव्यक्ति के लिए ब्रजभाषा को अपना लेती। ब्रजभाषा ने मध्ययुग से लेकर अभी कल तक जो कल-कोमल प्रांजलता, मनोहर चित्रचारुता प्राप्त की थी उसे पन्त ने अपने कुल बीस-पचीस वर्षों के काव्य-जीवन में ही खड़ी बोली को दे दिया। भाषा के परिमार्जन में पन्त का महत्त्व इसलिए और बढ़ जाता है कि ब्रजभाषा को मधुर बनाने के लिए अढ़ाई-तीन सौ वर्षों के बीच में एक के बाद एक सैंकड़ों कवियों का सहयोग मिलता गया किन्तु पन्त को अकेले ही खड़ी बोली का सौन्दर्य-विन्यास करना पड़ा है। उन्होंने खड़ी बोली को जो व्यक्तित्व दे दिया है उसका अतिक्रम कर आज भी कोई आगे नहीं जा सका है।

पन्त ने जिस खड़ी बोली को रमणीयता दी, महादेवी ने उसे मार्मिकता देकर प्राण-प्रतिष्ठा कर दी। ताजमहल के भीतर उन्होंने दीपक जला दिया। भाषा के सौन्दर्य में पन्त बेजोड़ हैं, अभिव्यक्ति की मार्मिकता में महादेवी। उधर प्रसाद और निराला ने छायावाद को प्रबन्धात्मक व्यक्तित्व दे दिया है, द्विवेदी-युग के 'पद्य-प्रबन्ध' को चरम उत्कर्ष। इधर पन्त और महादेवी ने छायावाद के मुक्तक को एक निश्चित व्यक्तित्व दे दिया है। द्विवेदी-युग की 'झंकार' को इनके द्वारा सार्थकता प्राप्त हो गई है। ब्रजभाषा में जैसे मुक्तक का एक टकसाली रूप बन गया, वैसे ही पन्त और महादेवी की कविताओं से

छायावाद के मुक्तक का भी। नये-नये कवि उन्हीं के मॉडल पर अपनी रचना करने लगे। द्विवेदी-युग की खड़ी बोली में यह श्रेय गुप्तजी की कविताओं को प्राप्त था। कुछ अंशों में माखनलाल, प्रसाद और निराला को भी यह श्रेय दिया जा सकता है, किन्तु इनकी कला को सम्मान देकर भी नवयुवकों ने पन्त और महादेवी की कला को ही अधिक मनोयोग से अपनाया। गुप्तजी के बाद माखनलाल, माखनलाल के बाद प्रसाद, प्रसाद के बाद पन्त, पन्त के बाद महादेवी की लोकप्रियता अधिक बढ़ी। नवयुवक भावोच्छ्वल होते हैं, वे तरलता अधिक चाहते हैं। तरलता के लोभ में वे सुरुचि को भी छोड़ बैठते हैं, इसी कारण उर्दू शायरी को भी अपना बैठते हैं। महादेवी की तरलता में एक आर्य्य कवित्व है, उसने नवयुवकों को रोमांस का मनोहर संयम दिया है। महादेवी की कविता उन्हें मानों अपने ही जी की गहरी बात-सी लगती है, वे उसे अपना अन्तःकरण दे देते हैं। सच तो यह है कि महादेवी की कविताओं के कारण ही हिन्दी में उर्दू भावुकता की लोकप्रियता घट गई है।"[1]

आलोचना साहित्य — भावात्मक आलोचनात्मक शैली

वह चिरमूक नववधू — रामायण के नारी-चित्रों में सीता के बाद सबसे अधिक हृदय-द्रावक चित्र है उर्म्मिला का ! सीता के बाद हम इसलिए कहते हैं कि वे ही एक ऐसी तपस्विनी हैं जो चिरदुःखिनी रहीं — वेदना की कठोर भूमि से उनका जन्म हुआ था और वेदना की कठोर भूमि में ही वे समा गईं ! अयोध्या की अन्य राजवधुओं का सुहाग फिर लौटा, परन्तु वह सीता अपना सुहाग फिर न मना सकीं।

हाँ, उर्म्मिला का सुहाग भी माण्डवी और श्रुतिकीर्त की भाँति फिर एक बार जाग पड़ा था; परन्तु इस सुहाग के स्वागत के लिए उसे अपनी उन दो बहिनों की अपेक्षा कितना अधिक तप करना पड़ा था। माण्डवी और श्रुतिकीर्ति की अनुराग भरी आँखों के सम्मुख भरत और शत्रुघ्न साक्षात् थे, किन्तु उस उर्म्मिला के नयन-मनोरम लक्ष्मण न जाने कितनी दूर देश में उसके दृगों को सूना किये हुए थे !

रामायण के कवि चिरदुःखदायिनी वैदेही की वेदना से द्रवीभूत होकर माण्डवी और श्रुतिकीर्ति को भूल गये, परन्तु यह भूख उतनी नहीं अखरती जितनी उर्म्मिला की उपेक्षा ! इस युग के विश्वकवि रवीन्द्रनाथ का करुणकण्ठ उस उपेक्षिता नववधू की मूक वेदना से स्नेहार्द्र होकर बोल उठा है हाय, चुपचाप वेदना सहनेवाली देवी उर्म्मिला ! तुम प्रभात काल के शुक्रतारा के समान महाकाव्य-सुमेरु के शिखर पर एक ही बार दिखाई पड़ीं, उसके बाद अरुण के प्रकाश में तुम्हारा दर्शन फिर नहीं हुआ। लोग यह पूछना भी भूल गये कि तुम्हारे उदय और अस्त का स्थान कहाँ है !

---

1. 'पन्त और महादेवी' — 'युग और साहित्य', पृ. 232, 233, 234

उर्म्मिला को हमने मिथिलापुरी की विवाह-सभा में वधूवेश में देखा है। तदनन्तर, जब से रघुराजवंश के विशाल अन्तःपुर में उन्होंने प्रवेश किया तब से फिर एक बार भी उनके दर्शन नहीं हुए। वही उनके वैवाहिक वधूवेश का चित्र हृदय में अंकित रह गया। उर्म्मिला सदा बहू और चुप जान पड़ती है। भवभूति के 'उत्तररामचरित' में भी उसका वही मूक चित्र थोड़ी देर के लिए प्रकाशित हुआ है। सीता ने केवल एक बार स्नेह-पूर्वक उस चित्र पर उंगली रखकर अपने देवर लक्ष्मण से पूछा था — "वत्स, यह कौन है ?"

लक्ष्मण ने लजीली मुस्कान के साथ अपने मन में कहा — "आर्या उर्म्मिला के बारे में पूछ रही हैं !" यह कहकर उसी समय उन्होंने लज्जा से उस चित्र को छिपा दिया। इसके बाद रामचन्द्र के अनेक विचित्र सुख-दुःख के चित्रों में फिर एक बार भी किसी ने कौतूहल की उँगली उस चित्र पर नहीं रक्खी। कैसे रक्खे, वह तो केवल वधू उर्म्मिला है !"[1]

उपन्यास लेखन — आख्यानात्मक शैली

"वैशाली — हास-विलासमयी वैशाली, अपने समय की अलकापुरी ! इसकी बाहरी चमक-दमक में स्वर्णराशि की कितनी झलमलाहट है ! उस ग्राम्या की अकृत्रिम आँखें चौंधिया गयीं। अरे, यहाँ कितनी चकाचौंध हैं, कितना चाकचिक्य है, कितना रेला-मेला है ! अपने चारों ओर के चित्र-विचित्र वातावरण को वह कौतुक की दृष्टि से देख रही थी। उसका ग्रामीण कुतूहल इस मायापुरी का ओर-छोर नहीं पा रहा था, अपार संसार में वह निरवलम्ब कौमार्य्य की तरह आ गयी थी।

...महाराज के चरणों में प्रणत होकर महानमन् ने विनम्र अभिवादन किया। उसके झुकते ही पीछे खड़ी वह अमला सरला महाराज के दृष्टिपथ पर आ गई। उन्होंने हर्षित होकर कहा — शुभमस्तु, यह कौन कुमुदिनी है महानमन् !

आम्रपाली ने आगे बढ़कर महाराज के चरणों पर मस्तक रख दिया। महानमन् ने कहा — कृपालु महाराज, यह वही बालिका है जिसे आपने आम्रकुंज में पाया था।

महाराज ने विस्मित और पुलकित होकर कहा — अरे, यह कितनी बड़ी हो गयी ! आ बेटी, तनिक अपना तन-मन जुड़ा लूँ।

उन्होंने आम्रपाली का मस्तक उठाकर उसे अपने स्नेह-वत्सल वक्षस्थल से लगा लिया। प्यार से उसका माथा सूँघ लिया। उन्होंने अनुभव किया, इन वनबाला में प्रकृति की सुगन्ध है।

महानमन् की ओर देखकर उन्होंने कहा — मित्र, मेरा अन्त समय निकट है, जरा और व्याधि से मैं जर्ज्जरित हो गया हूँ। जाने के पहिले तुमसे कुछ बात कर लेना चाहता हूँ।

---

1. 'काव्य में उपेक्षित उर्म्मिला' — 'कवि और काव्य', पृ. 224, 225

अरे, यह कैसा दुर्भाग्य !— माँ का मुँह नहीं देख सकी, अब ये धर्मपिता भी अपनी झलक देकर आँखों से ओझल हो जाना चाहते हैं !

आम्रपाली महाराज के वक्षस्थल पर फफक उठी। उसके आँसुओं से आर्द्र होकर महाराज ने उसका करुण कोमल मुख ऊपर उठाया, दुलार से उसकी ठोड़ी पकड़ कर अपना आशीर्वाद दिया — रो मत बेटी, जिस परमात्मा ने तुझे मेरी गोद में दिया वही तेरी रक्षा करता रहेगा। अपने नाम के अनुरूप ही तू भूमि की मधुर कीर्ति बनेगी।

आम्रपाली ने पुनः प्रणत होकर अपने सजल अञ्चल से महाराज के चरणों के स्पर्श कर उसे अपनी पलकों से लगा लिया।

महानमन् ने सोचा था — कुछ अवकाश मिलते ही आनन्दग्राम लौट कर आम्रपाली के प्रिय पात्र से उसका पाणिग्रहण करा दूँगा। किन्तु राजनीतिक उलझनों में वह वृद्ध महावलाधिकृत ऐसा उलझ गया कि उसे आम्रपाली की ओर ध्यान देने का अवसर ही नहीं मिला। इस बीच वैशाली के अन्तःपुर में आम्रपाली के सौन्दर्य और सुरुचि की चर्चा होने लगी। महिलाओं ने अपने आप में तुच्छ होकर कहा — ओह, इतनी गणिका बनाते हैं, दूसरी ओर कुलीनता की रक्षा का ढोंग करते हैं। वे निर्धन कुलकन्याओं से अँधेरे में कुछ काम कराकर पारिश्रमिक के रूप में उन्हें सत्तू का पिण्ड देते हैं, उस पिण्ड में मर्य्यादापूर्वक जीवन-निर्वाह करने के लिए स्वर्ण-खण्ड गुप्त रहता है। इसे 'लज्जापिण्ड' कहते हैं। गणिका को भी स्वर्ण मिलता है, किन्तु वह उसकी निर्लज्जता का शुल्क या पुरस्कार कहलाता है। तू किसी के दान अथवा पुरस्कार के प्रलोभन से अपना अमूल्य जीवन मत नष्ट करना। यदि तुझे अपने मन का साथी मिल गया तो ठीक, नहीं तो यह राजप्रासाद और निजी सम्पति तुझे दे दूँगा। मैं चाहता हूँ, ऐश्वर्य के दर्पण में विलास से अपना विकृत मुख देखनेवाले वैशाली के तरुण तुझी से सामाजिक मर्य्यादा सीखें। सम्पत्ति, संस्कृति और कला से तू ही ऋद्धि-सिद्ध हो जा, तू ही वैशाली बन जा बेटी !

भविष्य के शुभ स्वप्नों में समाधिस्थ अपने आप में एकाकी महाराज अनुकूल अवसर पाकर वर्षों बाद मुखर हो उठे थे। इस लम्बे प्रवचन से वे परिश्रान्त हो गये। आम्रपाली ने उनके चरणों में द्रवित चित्त से प्रणत होकर निवेदन किया — आप विश्राम करें तात ! मैं आजीवन आपके आदेश का पालन करूँगी। श्रीचरणों का आशीर्वाद मुझे मेरे कर्त्तव्य का स्मरण दिलाता रहेगा।

महाराज ने उसके मस्तक पर दैवी छाया की तरह अपना हाथ रखकर कहा — एवमस्तु !"

'विसर्जन' — 'चारिका', पृ. 64, 65, 68, 69

उपन्यास लेखन — आलंकारिक संश्लिष्ट शैली

कमलिनी के बाद कमल की आँखों के सामने और भी न जाने कितनी कलियाँ खिलीं, सब दो दिन वृन्तों में खेलीं, फिर न जाने कहाँ विलीन हो गयीं !— किसी देवता के मस्तक पर चढ़ीं, किसी प्रेमी के हृदय से लगीं, या, किसी उद्धत पशु के पैरों से कुचल गयीं !

उन फूलकुमारियों की तरह कमल का जीवन भी अनिश्चित और अरक्षित था। कलियों की विवशता और समाज की निष्ठुरता के कारण दुनिया के रेले-मेले में वह अकेला पड़ गया। उसके लिए जैसे साँझ वैसे सवेरा, जैसी रात वैसी चाँदनी, सारी सृष्टि रूढ़ियों की तरह ही घिसी-घिसायी और बेजान जान पड़ती थी, उसमें न कोई नवीनता मिलती थी न सरसता। शय्या पर पड़े-पड़े वह आकाश के तारों को एकटक देखता रहता, किन्तु तारों की चमक से क्या सबका भाग्य चमक जाता है !

जीवन में कोई आकर्षण नहीं मिलने के कारण वह अनमना हो गया। क्या वीतराग हो गया ? क्या उसमें राग नहीं रह गया ? यदि राग नहीं था तो वह सूनापन कैसे अनुभव करता था ?

प्रकृति से जैसे उसे शरीर मिल गया था वैसे ही राग भी मिल गया था। भोजनालय में शरीर का पोषण तो किसी तरह हो जाता था किन्तु राग का पोषण नहीं हो पाता था।

अकेला राग एकरस — नीरस हो जाता है, कमल चाहता था राग के लिए कोई अनुरागिनी-रागिनी, किन्तु सामाजिक विषमता में वह मिलेगी कैसे ?

एक दिन कमल जब भोजन के लिए बाज़ार में घूम रहा था तब उसने ऐसे मकानों को देखा जिसमें लोग वैसे ही बेखटके चले जा रहे हैं जैसे भोजनालयों में चले जाते हैं। उन मकानों पर भोजनालयों की तरह साइनबोर्ड नहीं था, किन्तु खिड़कियों पर जीती-जागती मूर्तियाँ अपनी ओर आकर्षित कर रही थीं। कुतूहलवश कमल भी उन्हीं मकानों में से किसी एक में चला गया। अरे, यह क्या, यह तो वेश्यालय है ! नैतिकतावादी कहेंगे — छिः छिः, वह कलाकार कहाँ-से-कहाँ चला गया, उसका कैसा पतन हो गया।

भोजनालयों और होटलों में जैसे रोटी बिकती है वैसे ही वेश्यालयों में सेक्स बिकता है। भोजनालयों और होटलों में जाना अनैतिक नहीं समझा जाता, वेश्यालयों में जाना अनैतिक समझा जाता है, दोनों में फरक ही क्या है, दोनों बाज़ारू हैं। पैसे की दुनिया में घर-बाहर सभी बाज़ारू हैं। नैतिकता टकसालों में नहीं ढल सकती।

...कमल ने देखा, वेश्यालयों में कितना राग-रंग है ! कहाँ से आ गया इतना राग-रंग ? वह समझ गया, समाज ने उसी की तरह जिन्हें निर्वासित कर दिया वे ही अपने रिक्त स्थान में पतझड़ छोड़कर वसन्त के वैभव (रूप-रंग) से वेश्यालयों को गुलज़ार कर रही हैं। घरों की कुलकन्याएँ अथवा उपवनों की कलिकाएँ ही तो यहाँ भी शेफाली, मालती, माधवी, बेला, चम्पा, चमेली, जुही इत्यादि हैं।"[1]

---

1 'चित्र और चिन्तन', पृ. 16-17

काव्य रचना — रागात्मक, भावात्मक, आलांकारिक इत्यादि विविध शैली प्रयोग

धूलि-धूसरित जीवन-पथ में
कब से बैठी तू बाले !
कब से सने हुए हैं रज में
तेरे ये कुन्तल काले !

कहाँ गया संकोच दृगों का
कहाँ कमल-मुख की वह लाज !
दो दानों पर पिक-सी बानी
लुटा रही तू क्यों यों आज ?

अरी, छिपा ले अपने मुख से
कुटिल काल की रेखाएँ,
निठुर जगत कब पढ़ सकता है
इनमें धुँधली गाथाएँ !

— ('हिमानी'

...किन्तु हाय, क्यों दो दिन में ही
तुम भी मुरझा चले अहो,
किस विषाद से, किस अभाव से,
मुझसे भी कुछ कहो-कहो !

मेरी आँखों में हैं जब तक
जल की ये बूँदें दो-चार,
कैसे मुरझा जाओगे तुम,
ऐ मेरे प्रियतम सुकुमार।

— ('हिमानी'

माँ ! मैं लघु-से-लघु होकर भी
तेरी महिमा दिखलाऊँ,
एक तारिका बन कर तेरी —
शशि-छवि अधिक बढ़ा जाऊँ !

तेरी वीणा के तारों में
एक गीति बन मँडराऊँ,
तेरी ही बन एक रागिनी
लय अनन्त में हो जाऊँ !

तेरे ही इस प्रेम-सिन्धु की
एक वीचि बन लहराऊँ,
तेरी ही लीला दिखला कर
फिर तुझमें ही मिल जाऊँ।

माँ ! तेरे सौरभ के वन में
एक कली-सी खिल जाऊँ,
तेरी ही माला में गुँथ कर
मैं पूजा में चढ़ जाऊँ।

— ('हिमानी')

जगती के निर्म्मम पथिकों से
सखि ! रखती हो कैसी आस ?
अपने गीले अंचल में तु
पाओगी केवल उपहास !

छोड़ो उनकी मिथ्या आशा
आओ चलें प्रकृति के देश,
वहीं पूर्ण होगी अभिलाषा
जग को दे दो जग का क्लेश।

वहीं लौट कर चला गया है
वह सुख-सुषमा का संसार
जहाँ खेलता-खिलता रहता
जननि प्रकृति का शिशु-परिवार।

चलो, चलो, हम वहीं चलें फिर
लेकर अपनी क्षीण पुकार
नदियों से हम पानी माँगें
वसुधा से चावल दो-चार।

— ('हिमानी')

कहता है पूर्णेन्दु, ताज से —
'ऐ वसुधा के शिशु सुकुमार !
इस अनन्त में आओ, हम-तुम,
करें एक ही साथ विहार !

तब सन्ध्या का मौन भंग कर
सुन पड़ता कुछ हाहाकार,
व्यथित ताज के रुद्धकण्ठ में
यह कैसा है करुणोद्गार ! —

'नहीं बन्धु, मेरे गृह में तो
सोये हैं दो व्याकुल प्राण,
अभी न सूखे हैं उन प्यासी
आँखों के आँसू अम्लान !'

यह सुन नभ के पलकों में भी
छा जाता है मौन-रुदन,
ताजमहल के उद्यानों में
बिखरे आँसू के कन-कन !

फैला देता है शशि, अपनी —
धुली चाँदनी का साया,
युगल प्रेमियों की समाधि पर
मानें, करुणा की छाया !

— ('हिमानी')

तुमने अब तक देखी होगी
कितनी शोभा, सुन्दरता,
अहो कहीं तो रीझी होगी
रसिक, तुम्हारी भावुकता —

कहो कहाँ है, त्रिभुवन-भर में
वह अनुपम सौन्दर्य्य महान !
जिसका बनूँ उपासक मैं भी
करुँ उसी का अपलक ध्यान।

— ('नीरव')

सुनती थी मैं तो —
प्रिय का मुख-छाया में
प्यार से,
दुलार से,
खिलते हैं नारियों के अंग-अंग
बहती उमंगभरी सुख की मदिर तरंग
किन्तु हाय,
मेरे तो अंग-अंग
सोच से
विह्वल संकोच से
ढीले हो रहे हैं आज
हाय-री सुहाग-लाज !

— ('नीरव')

अभी-अभी सखियों में हिलमिल
खेल रही थीं तुम सरले !
सहसा कैसे सीख गयी हो —
मिलना प्रिय से लजक गले ?

किस आकर्षण से प्रियतम से
सजनि, कराया तब परिचय ?
बाल-सहचरी होकर भी मैं
देख न पायी शुभ परिणय !

फूलो-फलो सदा ही संगिनि !
प्रियतम के प्राणों में झूल,
पर, बचपन की सखियों को तुम
आली ! कभी न जाना भूल।

— ('नीरव')

तितली ! तितली ! मुझको भी तो
दे दो अपनी चंचलता,
दे दो, दे दो, हाँ सखि, मुझको
अपनी प्यारी कोमलता।

वन-वन विहरण करूँ तुम्हीं-सी
एक बालिका बन छविमय,
फूली नहीं समाऊँगी मैं
खेलूँगी निशिदिन निर्भय।

किन्तु सजनि, निज शोभा देकर
मुझे न देना अपनी दाह,
कभी न धधकै प्रेम-अग्नि वह
जिसमें उठती रहती आह।

— ('नीरव')

समकालीन साहित्यकारों के विचार

हिन्दी साहित्य के नवोन्मेषी जागरण काल के संवाहकों में शांतिप्रिय द्विवेदी जी का नाम अग्रणीय है। जीवन-यापन की समुचित सुविधाओं से वंचित रहने पर भी उन्होंने प्राचीन कवियों की परम्परा को पुनर्जीवित किया और उसे प्रतिष्ठित किया। द्विवेदी जी की साहित्यिक प्रतिभा और उपलब्धियों को सभी साहित्यकारों ने स्वीकार किया और सराहा। सुमित्रानंदन पंत ने द्विवेदी जी की साहित्यकार और चिन्तक के रूप में सर्वोपरिता स्वीकार की तथा कहीं और उनके सहज व्यक्तित्व की सराहना इन शब्दों में की, "ग्राम जीवन में स्वच्छ-सरल परिवेश से प्रभावित होने के कारण उनके संस्कारों में खादी के सूतों की एक शुद्धता और सर्वोपयोगिता मिलती है।" पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा, "द्विवेदी जी शांत, निश्छल बुद्धिजीवी थे। प्रत्येक साहित्यिक को वे अपनी बिरादरी का सदस्य मानते थे और उसके साथ स्नेहसंपृक्त बिरादराना व्यवहार करते थे। हिंदी सेवियों की वह पीढ़ी और उनकी वह भूमिका अब समाप्त प्रायः है। वे उन व्यक्तियों की माला के अंतिम व्यक्ति थे।" डॉ. शिव मंगल सुमन ने उनके विषय में लिखा, "उनकी वाणी में ऋचाओं की पवित्रता और आरती की समुज्ज्वलता है। श्री रायकृष्णदास ने द्विवेदी जी की साहित्यिक उपलब्धियों को देखते हुए हिंदी साहित्य में उनका स्थान निर्धारण करते हुए लिखा, "भारतेन्दु काल से आज तक हिंदी कहाँ से कहाँ पहुँच गयी और दिन-दिन उठती ही जायेगी। किंतु लेखकों के इस भारी समुदाय में श्री शांतिप्रिय द्विवेदी का स्थान अद्वितीय है। उन्हें किसी देशी या विदेशी भाषा का सम्बल नहीं, उनकी प्रज्ञा ही उनका निर्माण करती आयी है। ऐसे मौलिक विचार वाले साहित्यिक विरले ही होते हैं। डॉ. हरिवंशराय बच्चन ने द्विवेदी जी को अपना प्रिय लेखक माना और लिखा, "इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि हिंदी समालोचना को सृजन की सरसता देने का सर्वप्रथम कार्य शांतिप्रिय द्विवेदी जी ने ही किया।"

आधुनिक आलोचक डॉ. नगेन्द्र जी ने द्विवेदी जी की साहित्य मर्मज्ञता की सराहना की और लिखा, "शांतिप्रिय द्विवेदी जी को साहित्य के मर्म की जैसी परख है वैसी कम आलोचकों को है। परिणाम और गुण दोनों की दृष्टि से हिन्दी आलोचना के विकास में उनका योगदान अक्षुण्ण है। उनकी मार्मिक रचनाओं के अभाव में छायावादी काव्य का रूप हिंदी के साहित्य समाज तक संप्रेषित नहीं हो पाता। ऐसे आलोचक कम हैं जिनकी समीक्षा शैली भी काव्य और आलोचक के हृदय रस से इस प्रकार मधुसिक्त हो उठती है।"

मैथिलीशरण गुप्त ने द्विवेदी जी के विषय में अपने उद्गार व्यक्त किये, "शांतिप्रिय, सकुशल रहो, तुम काँटो के फूल, मधु सौरभ तुमने दिए लिए सहज सौ शूल।"

इसी प्रकार आज के कुछ प्रमुख विद्वानों ने भी शांतिप्रिय द्विवेदी के संबंध में बातचीत की और उन्होंने अपने विचारों से अवगत कराया। डॉ. नामवर सिंह ने द्विवेदी जी के संबंध में अपने संस्मरण में बताया कि वे काफ़ी लम्बे समय तक सन् 1953 से 1965-1966 तक बनारस में उनके पड़ोसी थे। द्विवेदी जी के घर में नल नहीं था इसलिए उनके घर के सामने वाले नल पर ही उनका सवेरा होता था। उस नल को द्विवेदी जी अपने जीवन 'संघर्ष का प्रतीक' कहा करते थे। मशीन विरोधी द्विवेदी जी मे शुचित का संस्कार प्रबल था। दिन भर घर में रहते और शाम को नित्य स्नान के बाद धुला कुर्ता, पायजामा, टोपी और सर्दी में बंडी पहनकर निकलते थे। विश्वनाथ मंदिर के सामने से हिंदी प्रचारक चौक तक जाते थे वहाँ से रात का खाना आदि खाकर लौटते थे।

सहानुभूति के साथ आलोचना लिखने वालों में द्विवेदी जी का नाम प्रमुख है। अंग्रेजी का ज्ञान बिल्कुल न होते हुए भी साहित्य में उनकी गहरी समझ थी। शुक्ल जी ने प्रभाववादी आलोचना के संबंध में जो लिखा वह द्विवेदी जी को आधार मानकर लिखा। द्विवेदी जी गाँधीवादी थे। सर्वोदय में उनका गहरा विश्वास था। प्रगतिशील आन्दोलन में भी उनका विश्वास था क्योकि शोषण के वे विरुद्ध थे। इसलिए यशपाल के भी प्रशंसक इसी कारण से थे।

डॉ. विजयेन्द्र स्नातक जी ने द्विवेदी जी के संबंध में बताया कि वे कुबड़े और कुरूप व्यक्ति थे। आँखों पर मोटा चश्मा पहनते थे। पर यह तो उनका बाहरी रूप था भीतर से अत्यन्त संवेदनशील और सौन्दर्यप्रेमी। भोले बच्चे की तरह सरल और निश्छल। द्विवेदी ज़ी का जीवन अभावग्रस्त रहा। धन और यश का अभाव तो था ही गृहस्थ भी नहीं बन सके। विवाह की तीव्र इच्छा रहते हुए भी विवाह नहीं कर सके। द्विवेदी जी की प्रतिभा को भी उनके समय में कम ही लोगों ने पहचाना। उनकी पुस्तकों के अध्ययन से ही उनकी प्रतिभा का आकलन किया जा सकता है। द्विवेदी जी की कलम 'सशक्त' थी और वे चित्र भाषा में लिखा करते थे। छायावाद को उठाने वाले द्विवेदी जी ही थे। द्विवेदी जी शब्दवागीश थे। उनकी टक्कर का दूसरा व्यक्ति उस समय नहीं था।

डॉ स्नातक ने शांतिप्रिय द्विवेदी पर एक लम्बी कविता लिखी थी उसका एक अंश यहाँ उद्धृत है —

'प्लास्टिक प्रिया'
(मदन्त तथागत)

दो वेदों से पारंगत हैं,
सुख स्नेह, संतोष-सम्मत् से
चिर वंचित मैं,
शांति नहीं

पर शांतिप्रिय हूँ।
जगत ख़्यात है मेरी कृतियाँ
पर मैं जगत् विख्यात नहीं हूँ।
अर्द्ध शती तक
दान दिया है
मैंने अपने जीवन रस का,
तिलतिल जलकर
आलोकित्त रख सका कि
जिससे —
बुझते-झपते
छायावादी काव्य को।
पर विडम्बना की छलना यह,
स्नेह बिना
सूना-सा
मेरा
जीवनदीप बुझा जाता है।

डॉ. रामदरश मिश्र जी ने 'हिन्दी आलोचना का इतिहास' में शांतिप्रिय द्विवेदी जी के बारे में लिखा है, द्विवेदी जी छोटे कद के दुबले-पतले व्यक्ति थे। पीठ झुकी हुई थी। अविवाहित और अकेले थे। जेब में नीम की दातुन डाले शाम को गोदोलिया में अक्सर मिल जाया करते थे और 'सुनिए सुनिए' कहकर रोक लेते थे। अक्सर द्विवेदी जी कहा करते थे, "आप लोगों को जो संकट साहित्य में दिखाई दे रहा है आप उसी को देख रहे हैं। मुझे तो विश्व का जीवन ही संकट में दिखाई पड़ रहा है। एटम बम बन गया है। विश्व कभी भी नष्ट हो सकता है।" द्विवेदी जी की दो बड़ी अतृप्तियाँ थी — यौन अतृप्ति और अपनी रचनात्मक उपलब्धि की थी। वे कहा करते थे "हमारा सही मूल्यांकन नहीं हुआ है।" रामचन्द्र शुक्ल ने द्विवेदी जी को प्रभाववादी आलोचक कहकर टालना चाहा था पर डा. रमदरश मिश्र ने इसका विरोध किया। एक बार शांतिप्रिय द्विवेदी ने हजारी प्रसाद द्विवेदी जी से कहा था, "आपके इस साहित्य के इतिहास में तरलता की कमी है। हजारी प्रसाद जी का उतर था — "बहुत तरल मिट्टी से मकान नहीं बनता। इसी तरह साहित्य की रचना भी मात्र तरलता से नहीं हो सकती।"

शांतिप्रिय द्विवेदी जी सभी से प्यार करते थे। अहंकार उनमें बिल्कुल भी नहीं था। उनकी वृति शोधार्थी की वृति थी। शुद्ध मन से पढ़ना और लिखना। कानों से द्विवेदी जी कम सुनते थे इससे भी उन्हें कई कठिनाइयाँ आईं। लेकिन साहित्यिक सभाओं और विद्वतगोष्ठियों में उनकी उपस्थित और उनकी बातों का बड़ा सम्मान था।

परिशिष्ट

शांतिप्रिय द्विवेदी जी की कृतियाँ —

1. परिचय, 1927, साहित्य सदन, चिरगाँव
2. नीरव, 1929, भारती भंडार, लीडर प्रेस, काशी
3. हिमानी, 1934, हिंदी मंदिर प्रेस, प्रयाग
4. मधु संचय] अनुपलब्ध
5. मोतियों की लड़ी]
6. हमारे साहित्य निर्माता, 1935, ग्रन्थमाला कार्यालय, बाँकीपुर
7. साहित्यिकी, 1938, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद
8. संचारिणी, 1939, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद
9. युग और साहित्य, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद
10. सामयिकी, 1944, ज्ञान मंडल लिमिटेड, कबीर चौरा, वाराणसी
11. पथ-चिन्ह् , 1946, चौखम्भा, विद्या भवन, वाराणसी
12. धरातल, 1948, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी
13. जीवन यात्रा, 1951, ग्रंथ कार्यालय, पटना
14. ज्योति विहग, 1951, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
15. परिव्राजक की प्रजा, 1952, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद
16. प्रतिष्ठान, 1953, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद
17. दिगम्बर, 1954, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
18. साकल्य, 1955, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
19. पद्मनाभिका, 1956, कल्याण दास एण्ड व्रदर्स, ज्ञानवाणी, वाराणसी
20. आधान, 1957, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, ज्ञानवाणी, वाराणसी
21. चारिका, 1958, राष्ट्रीय प्रकाशन मंदिर, अमीनाबाद, लखनऊ
22. वृन्त और विकास, 1959, भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी
23. समवेत, 1960, किशोर एण्ड सन्स, चौक, वाराणसी
24. कवि और काव्य, 1960, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद
25. परिक्रमा, 1962, चौखम्भा, विद्याभवन, चौक, वाराणसी।
26. चित्र और चिन्तन, 1964, चौखम्भा, विद्याभवन, चौक, वाराणसी।
27. स्मृतियाँ और कृतियाँ, 1966, चौखम्भा, विद्याभवन, चौक, वाराणसी।

शांतिप्रिय द्विवेदी (1906-1967) का जन्म एक ग़रीब ब्राह्मण परिवार में हुआ। असीम करुणाभरी आँखें, दुबली-पतली काया, लम्बे बिखरे केश, बदन पर खादी का कुरता-पायजामा, सिर पर गाँधी टोपी, पैरों में साधारण चप्पल, व्यवहार में न तो किसी तरह का आडम्बर और न ही कोई रोब-दाब। अभाव और अभिशाप की छाया में पले-बढ़े द्विवेदीजी अपनी साहित्य-साधना के बल पर हिन्दी के छायावादकालीन समालोचकों में प्रथम स्थान के अधिकारी रहे। उनको साहित्य के सृजन, रचनाकारों के भाव-बोध, उनकी विशिष्टताओं और सीमाओं का जितना ज्ञान था—उतना बहुत कम आलोचकों में मिलता है। हिन्दी आलोचना के विकास में उनका विशिष्ट योगदान रहा। चूँकि वे स्वयं एक विशिष्ट कवि और सहृदय रचनाकार थे इसलिए सृजन के समस्त सुख-दुःख और आयामों से उनका सीधा साक्षात्कार था। वे अपने समकालीन रचनाकारों से भी सीधे जुड़े थे, इसलिए उनकी समीक्षा में सहभाव और सद्भाव की सकारात्मक मुद्रा देखी जा सकती है—टकराव या नकारात्मक तेवर नहीं। उनकी मान्यता थी कि साहित्य स्वान्तः सुखाय सृजन है और आलोचना निबन्ध-कला की सरस शैली, जो कृति के मर्म की साक्षी देती चलती है।

हिन्दी साहित्य के इस समर्पित कविमना आलोचक ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद आत्म-व्यंजना-प्रधान आलोचना शैली को एक नयी धार दी। उनकी प्रमुख कृतियों में *युग और साहित्य, संचारिणी, कवि और काव्य, सामयिकी, वृन्त और विकास* तथा *समवेत* प्रमुख हैं।

प्रस्तुत विनिबंध की लेखिका कमल कुमार हिन्दी की वरिष्ठ प्राध्यापिका हैं। आपने साहित्य की हर विधा में लेखन-कार्य किया है। आज की संघर्षरत नारी से जुड़ी समस्याओं पर भी आप नियमित रूप से पत्र-पत्रिकाओं में लिखती रही हैं।

पन्द्रह रुपये